



मानव अधिकार पत्रिका

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग का
त्रैमासिक प्रकाशन

वर्ष 2013

अंक - द्वितीय

संरक्षक

जस्टिस ए.के. सक्सेना
कार्यकारी अध्यक्ष

वीरेन्द्र मोहन कँवर
सदस्य

विनोद कुमार, सचिव
ए.के. जैन, अतिरिक्त पुलिस महानिदेशक
एच.के. दुबे, रजिस्ट्रार (लॉ)

प्रकाशक

कुलदीप जैन
उपसचिव

सम्पादक

रोहित मेहता
संयुक्त संचालक, जनसम्पर्क

सह सम्पादक

संजय कुमार विश्वकर्मा
शोध अधिकारी

सम्पर्क

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग
पर्यावास भवन, अरेरा हिल्स,
पुरानी जेल पहाड़ी मार्ग, भोपाल (म.प्र.)
फोन : 0755-2572034
फैक्स : 9755-2574028

E-mail : mphrc@sancharnet.in

Website : www.mphrc.nic.in

मानव अधिकार पत्रिका

द्वितीय अंक

वर्ष : 2013



मानव अधिकार पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं,
यह जरूरी नहीं कि आयोग उनसे सहमत हो।



**पत्रिका में प्रकाशित आलेखों का पुर्नप्रकाशन आयोग
का संदर्भ देते हुए किया जा सकता है।**



इस बार...

अनुक्रमणिका

क्र. विषय	पृष्ठ क्रमांक
1. पर्यावरण - प्रदूषण एक संकट की आहट	5
2. लोकहित याचिकाओं का औचित्य एवं उनका दुरुपयोग	8
3. दलित चेतना के प्रेरणास्रोत डॉ. भीमराव अम्बेडकर	11
4. बंदी व्यथा	13
5. कब भरोसे लायक होगी हमारी पुलिस व्यवस्था	14
6. शैक्षणिक संस्थाओं में रैगिंग : मानव अधिकारों पर कलंक	16
7. महिलाओं का सामाजिक परिवेश और अधिकार	18
8. भारतीय महिलायें - कल और आज	20
9. आखिर भारतीय किसान आत्महत्या क्यों कर रहे हैं?	23
10. भ्रष्टाचार एवं आतंकवाद - मानव अधिकार के घोर शत्रु	28
11. कल नहीं आज	33
12. सामने आई चिंताजनक सच्चाई	34
13. स्त्री अधिकार सभ्य समाज की अनिवार्यता	37
14. जलवायु परिवर्तन में निहित खतरे	39
15. लैंगिक उत्पीड़न - आगे बढ़ती महिलाओं के लिए रुकावट	41



क्र. विषय	पृष्ठ क्रमांक
16. ऐसे तो ध्वस्त ही हो जाएगी ग्रामीण अर्थव्यवस्था	45
17. आदिवासी विकास और अनुसूचित जनजाति आयोगों की उपादेयता	47
18. नदियों को अविरल बहने दिया जाए	50
19. शहर-सेहत बरबाद करतीं कारें	53
20. शिक्षा के अधिकार में रुकावटें	56
21. नैतिक मूल्यों में गिरावट	58
22. सड़क अतिक्रमण की गंभीर समस्या	60
23. Female Foeticide	62
24. Not too late to trap solar energy	65
25. Victims of crimes deserve a better deal	67
26. Police Sensitisation is the need of the of the day	69
27. For sustainable urban growth	71
28. Teaching few, and ignoring others	74
29. Ailing higher education	76
30. Dream big but be democratic	79
30. The Collaboration of State with non Governmental Organisations	81
31. Police Reforms in India: Crucial for Human Rights	85



पर्यावरण - प्रदूषण एक संकट की आहट

● जे.पी. पटेरिया



जलीय, स्थलीय एवं आकाशीय क्षेत्र में निवास करने वाले जैव एवं पादक समुदाय और निर्जीव वातावरण के बीच स्थापित परस्पर संबंध पारिस्थितिकी तंत्र कहलाता है। समस्त पारिस्थितिकी तंत्र में विभिन्न तत्वों के बीच प्राचीन काल से एक सन्तुलन स्थापित है और जब भी यह सन्तुलन बिगड़ा है तो विनाश की स्थिति सामने आई है। “अस्तित्व के लिये संघर्ष - सर्वोत्तम का चुनाव” के मूल सिद्धान्त पर ही प्रकृति का सारा खेल स्थिर है। इस जैविक संसार में होने वाली स्वाभाविक सत्ता संघर्ष के अतिरिक्त मानव जाति ने आज अपनी आवश्यकताओं, वैज्ञानिक खोजों या मनोरंजन के लिये पारिस्थितिकी तंत्र से गहरी छेड़छाड़ की है। जीव जन्तुओं की कई प्रजातियाँ या तो लुप्त हो गई हैं या लुप्तप्रायः हैं।



इस स वैज्ञानिक युग में मानव को जहाँ बहुत कुछ वरदान मिले हैं, वहाँ कुछ अभिशाप भी मिले हैं। प्रदूषण वह अभिशाप जिसे विज्ञान ने जन्मा और मानव जाति जिसे सहने के लिये मजबूर है। प्रदूषण प्राकृतिक संतुलन में दोष से उत्पन्न होता है। आज के विकसित एवं विकासशील आधुनिक युग में प्रदूषण की समस्या बढ़ती ही जा रही है, मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पतियाँ सभी इससे बुरी तरह प्रभावित हो रहे हैं। यहाँ तक कि ऋतुओं पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है। आज सम्पूर्ण विश्व के लिये प्रदूषण एक गम्भीर समस्या का विषय बना हुआ है। विभिन्न देशों के वैज्ञानिक इस समस्या का समाधान खोजने के लिये अपने-अपने तरीके से प्रयासरत हैं। तेजी से हो रहे आधुनिकीकरण का धरती और पर्यावरण पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। पर्यावरण प्रदूषण से संबंधित चिन्ताओं ने विश्व स्तर पर अत्यन्त जागरुकता बढ़ाई है, इस दिशा में सभी बुद्धिजीवियों ने गम्भीरता पूर्वक विचार करना प्रारंभ कर दिया है, इसमें पर्यावरणविदों की भूमिका काफी महत्वपूर्ण एवं सराहनीय है। विकासशील देश होने के नाते भारत के सामने इस बात की चुनौती है कि वह विकास के साथ ही साथ पर्यावरण पर इसके न्यूनतम दुष्प्रभाव के बीच सन्तुलन बनाये रखें। आज देश के समक्ष प्रदूषण नियंत्रण की महत्वपूर्ण चुनौतियाँ हैं।

अपने चारों ओर के परिवेश को हमने इस कदर छोड़ा है कि बात अगर पर्यावरण की उठती है तो प्रदूषण का प्रश्न अपने आप ही उपस्थित हो जाता है। यूँ तो प्रदूषण के दायरों का कोई आकलन नहीं, किन्तु पर्यावरण प्रदूषण का क्षेत्र आज बढ़ता ही जा रहा है। मानव एवं सभी प्रकार के जीवन को ढोने वाली पारिस्थितिकी तंत्र में हलचल मचाने वाली समस्या और प्रदूषण के व्यापक प्रभाव वाले क्षेत्र, वायु, प्रदूषण, जल प्रदूषण, स्थल एवं मृदा प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण।

जलीय, स्थलीय एवं आकाशीय क्षेत्र में निवास करने वाले जैव एवं पादक समुदाय और निर्जीव वातावरण के बीच स्थापित परस्पर संबंध पारिस्थितिकी तंत्र कहलाता है। समस्त पारिस्थितिकी तंत्र में विभिन्न तत्वों के बीच प्राचीन काल से एक सन्तुलन स्थापित है और जब भी यह सन्तुलन बिगड़ा है तो विनाश की स्थिति सामने आई है। “अस्तित्व के लिये संघर्ष - सर्वोत्तम का चुनाव” के मूल सिद्धान्त पर ही प्रकृति का सारा खेल स्थिर है। इस जैविक संसार में होने वाली स्वाभाविक सत्ता संघर्ष के अतिरिक्त मानव जाति ने आज अपनी आवश्यकताओं, वैज्ञानिक खोजों या मनोरंजन के लिये पारिस्थितिकी तंत्र से गहरी छेड़छाड़ की है। जीव जन्तुओं की कई प्रजातियाँ या तो



लुप्त हो गई हैं या लुप्तप्रायः हैं।

वायु प्रदूषण :- हानिकारक गैसों, अतिसूक्ष्म मूल कणों का वायुमंडल में उसके अपसरन की दर से ज्यादा मात्रा में छोड़ा जाना वायु प्रदूषण कहलाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार वायु प्रदूषण एक ऐसी स्थिति है जिसमें बाह्य वातावरण में मनुष्य और पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले तत्व सघन रूप से एकत्रित हो जाते हैं। मानवीय छेड़छाड़ या प्राकृतिक घटनाओं के आधार पर इसका विस्तार स्थानीय, क्षेत्रीय महादेशीय, या ग्लोबल रूप में हो सकता है। कैंसर, अस्थमा तथा सांस की अन्य बीमारियों से लेकर अम्लीय वर्षा के चलते ऐतिहासिक इमारतों और मूर्तियों का क्षय, फसलों एवं जंगलों की बरबादी के लिये वायु प्रदूषण उत्तरदायी है। किसी एक जगह पर कारखानों तथा मोटर गाड़ियों से निकलता धुँआ, दूसरी जगह नाईट्रिक अम्ल की वर्षा के रूप में पेड़, पौधों या ताजमहल जैसी धरोहर पर बरस कर अपना कहर बरपा जाता है। महानगरों में बीत रही जिन्दगी की हर सांस मौत का सुर सुनाती रहती है।

यदि ऐसी परिस्थितियाँ बनी रहें तो वह दिन दूर नहीं जब बाजार से शुद्ध ऑक्सीजन का पैकेट लेकर हम सांस लेते फिरेंगे। कुछ वर्ष पूर्व क्या हमने सोचा था कि पानी खरीदकर पीना पड़ेगा? एक महत्वपूर्ण कारक तत्व सीएफसी (क्लोरो फ्लोरो कार्बन) की वायु मंडल में उपस्थिति एक खतरनाक दुष्परिणाम हो जन्म देती है, वह है ओजोन परत में कमी और फलस्वरूप पराबैंगनी विकिरणों से पृथ्वी का सुरक्षा कवच का टूटना है। वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि प्रकृति ने वायुमंडल की दूसरी परत में ओजोन गैसों के रूप में रक्षात्मक आवरण दिया है, उसका दस प्रतिशत इस सदी के अन्त तक नष्ट हो जावेगा। पिछले चालीस वर्षों में पृथ्वी के वायुमण्डलीय तापमान में 2 से 3 डिग्री की वृद्धि दर्ज की जा चुकी है और ऐसा अनुमान है कि अगले कुछ वर्षों में यह ताप वृद्धि 4 से 5 डिग्री तक हो सकती है। इससे पृथ्वी का सूक्ष्म तापीय समीकरण बिगड़ेगा और जैविक सन्तुलन की स्थाई रचना नष्ट हो जावेगी। ध्रुवों पर बर्फ पिघलेगी समुद्र तल ऊँचा उठेगा समुद्र तटीय शहर जलमग्न हो जावेंगे।

जल प्रदूषण :- यह विचारणीय है कि जलीय पर्यावरण की पवित्रता का दायित्व क्या हमारा नहीं है? पिछले दशकों में जनसंख्या वृद्धि, शहरी जीवन जीने के लिये ललक तथा विकास के नाम पर जल में बहाई जाने वाली गन्दगी को साफ करने की जिम्मेदारी हमारी नहीं है। जिम्मेदारी सरकार पर छोड़कर हम निश्चिंत हो जाते हैं। हमारे देश में गंगा, यमुना जैसी पवित्र नदियों के तट पर बसे घनी आबादी वाले शहरों के आप यदि निवासी हैं तो क्या आपका मन अब भी पूर्व की भावनाओं के साथ पवित्र नदियों में स्नान के लिये तरसता है? किसी भी जल में जीवन की संभावना होने के लिये उसमें घुले ऑक्सीजन की कम से कम मात्रा 5 मिली ग्राम प्रति लीटर होना चाहिये जबकि दिल्ली में लिये गये एक नमूना परीक्षण के दौरान कई जगहों पर यमुना जल में ऑक्सीजन पाया ही नहीं गया, वायुमण्डलीय प्रदूषण पर्वतीय पर्यटकों द्वारा फैलाई गई गन्दगी का असर यह है कि गंगा या यमुना नदी का उद्गम स्थल भी अत्यधिक प्रदूषित हो चुका है।

नई दिल्ली के पर्यावरण वैज्ञानिक प्रोफेसर सैयद इकबाल के अनुसार यदि विश्वास करें तो गंगात्री ग्लेशियर के लगातार पीछे हटने से अगले लगभग 125 वर्षों में गंगा सूख सकती है। तैलीय रिसाव, विषैले रसायनों तथा रासायनिक एवं परमाणु कचरों के छोड़े जाने से अब तो समुद्र भी प्रदूषित हो चला है सागर में रहने वाली मछलियों तथा कई दुर्लभ जीवों का जीवन आज संकट में है। कीटनाशकों तथा रासायनिक ऊर्वरकों का कृषि में प्रयोग स्थलीय एवं भूगर्भीय जल को सीधे ही प्रदूषित करता है। प्रदूषित भूमिगत जल में पाई जाने वाली अर्सनिक या सैलिनियम की अधिक मात्रा कई प्रकार की बीमारियों का कारण है।

स्थल एवं मृदा प्रदूषण :- कुछ दशक पूर्व समाज में स्थल एवं मृदा प्रदूषण का न तो कोई जिक्र था और न कोई जागरुकता दिखाई देती थी। आज की चमत्कारिक वैज्ञानिक खोज है प्लास्टिक/पॉलीथीन तथा औद्योगिक कचरा, शहरों में ही नहीं गाँव में भी स्थल प्रदूषण की बानगी दिखाई देती है। प्लास्टिक, पॉलीथीन, सीसे की बनी छोटी वस्तुओं से लेकर लोहे की बनी कार या ट्रक के कचरों का एक स्थान पर जमाव या बिखराव ने भूमि प्रदूषण का जो दृश्य उत्पन्न



किया है उसे आज सहज महसूस नहीं कर सकते। प्रत्येक वस्तु जिसका कार्बनिक या अकार्बनिक तरीके से सरल तत्वों में शीघ्र अपघटन या अपक्षय नहीं हो सकता भूमि प्रदूषण के लिये जिम्मेदार है। स्थल एवं मृदा प्रदूषण के लिये जिम्मेदार तत्वों का पुनर्नवीकरण के अतिरिक्त कोई उपाय पर्यावरण संरक्षण के लिये उपयुक्त नहीं है।

हरित क्रान्ति या उन्नत पैदावार के लिये अपनाई गई रासायनिक कृषि मिट्टी की उर्वरकता को बढ़ाने की बजाए उसे स्थाई तौर पर बरबाद कर रही है। हमारे पारस्थितिकी तंत्र में मिट्टी एक महत्वपूर्ण जीवन्त इकाई है। एक ग्राम उपजाऊ मिट्टी में लगभग 10 करोड़ जीवाणु और 500 मीटर के बराबर कवक के सूत्र होते हैं। इसके अलावा मृदा तंत्र हजारों प्रकार की शैवाल, कोशिकायें, विषाणु, आथोपोड एवं केंचुआ जैसे अन्य जीवों की शरण स्थली भी है। मिट्टी की पोषण शक्ति को बढ़ाने के लिये रसायनों एवं कीटनाशकों का प्रयोग, आहार चक्र के माध्यम से जानवरों एवं मनुष्य के स्वास्थ्य को प्रभावित कर रहे हैं। नित्य नये निर्माण कार्य, वनों की कटाई से बाढ़ तथा मृदाक्षरण दोनों गतिविधियाँ तेजी पर हैं। भू-क्षरण भूमि प्रदूषण के लिये जिम्मेदार है। 10 से.मी. से ऊपरी मृदा के आवरण को बनाने में लगभग 200 वर्ष का समय लगता है, अतः मिट्टी का नष्ट होना एक अनवीनकरण सम्पदा का नुकसान है।

ध्वनि प्रदूषण : औद्योगिकी संस्कृति एवं शहरी क्षेत्र की एक अनचाही देन ध्वनि प्रदूषण के रूप में प्राप्त है। मनुष्य या जानवरों को मानसिक या शारीरिक रूप से आघात पहुँचाने वाली किसी भी प्रकार की अनचाही और हानिकारक आवाज का सम्पर्क ध्वनि प्रदूषण कहलाता है। दबाव, उच्चता अथवा तारत्व के आधार पर ध्वनि को डेसीबल इकाई में मापा जाता है। ध्वनि का 10 डेसीबल से 20 डेसीबल तक के स्तर की वृद्धि वास्तव में 100 गुना वृद्धि है। ध्वनि प्रदूषण का गुणात्मक स्वरूप, भाषायी समझ या ध्वनि की कर्णप्रियता से है। अगर आप हिन्दी भाषी हैं और मैं चीनी या जापानी में बात करूँ तो आप

असहज हो उठेंगे। यदि किसी भी संगीत के लिये स्नेहभाव नहीं है तो वह आपको कटु लगेगा। व्यस्त यातायात या कारखानों से निकली आवाज 90 डेसीबल तक के स्तर की होती है, इस स्तर की ध्वनि का लगातार सुने जाने से श्रवण तंत्र असंवेदनशील हो जाता है तथा तंत्रिका तंत्र संबंधी बीमारियाँ हो सकती हैं।

हम शान्त जीवन की तलाश में अपनी जलवायु एवं परिवेश को दूषित कर पहाड़ों पर चल जाते हैं लेकिन अब तो वहाँ भी यह बात बेमानी लगती है। अविकसित राष्ट्र औद्योगीकरण के बिना भी प्रदूषण के शिकार हैं। विकासशील देशों का तर्क यह है कि मुझे भी उतना ही आगे आने दो फिर पर्यावरण संरक्षण के बारे में सोचेंगे। विकसित देश आज उपदेशक हैं पर्यावरण को किये नुकसान की भरपाई के लिये किये जाने वाले प्रयासों के प्रति अपनी जिम्मेदारी मानने से पीछे भाग रहे हैं।

प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में पर्यावरण संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। पर्यावरण को संरक्षित करने की दृष्टि से ही पेड़ पौधों में ईश्वरीय रूप को स्थान देकर उनकी पूजा का विधान बताया गया है। जल में वरुण देवता की परिकल्पना कर नदियों व सरोवरों का स्वच्छ व पवित्र रखने की बात कही है। वायु मण्डल की शुचिता के लिये वायु को देवता माना है। वेदों व ऋचाओं में इसके महत्व को बताया है। शास्त्रों में पृथ्वी, आकाश, जल, वनस्पति एवं औषधी को शान्त स्वच्छ रखने को कहा गया है। आशय यह है कि इन्हें प्रदूषण से बचाया जावे। ये सब संरक्षित व सुरक्षित होंगे तभी हमारा जीवन भी सुरक्षित व सुखी रह सकेगा। आज आप सुकून से बैठकर यह लेख पढ़ रहे हों तो भी भयभीत न हों, वर्तमान स्थिति की गम्भीरता के प्रति समझ और पर्यावरण के प्रति चेतना निरन्तर नये शोध और निषेधक उपायों को अन्जमा दे सकेगी। आईये मिलकर प्रार्थना करें - हे ईश्वर हमारे कृत्यों/पापों से तू हम सबकी रक्षा कर।

(लेखक राज्य वन सेवा से हैं)





लोकहित याचिकाओं का औचित्य एवं उनका दुरुपयोग

• डॉ. जयदीप पाराशर

न्यायपालिका को शक्ति के दुरुपयोग या गलत प्रयोग को रोककर जन मानस को ऐसा उपचार प्रदान करना होगा जिसमें दलित व कमजोर वर्ग का शोषण व अन्याय समाज से समूल समाप्त हो जाये। चाहे इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सक्रिय न्यायपालिका को प्रक्रियात्मक आविष्कार क्यों न करना पड़े।

- न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती

आ जादी के बाद भारतीय नागरिकों को दो बड़े अधिकार मिले। न्यायिक सक्रियता ने लोकहित याचिका का अधिकार दिया और सरकार ने सूचना का अधिकार दिया। लोकहित याचिकाओं के जरिये लोगों को काफी राहत मिली। बेबस और लाचार जनता के न्यायालयों का दरवाजा खटखटाया और न्यायालय ने बेजुवानों को जुबान दी। लोकहित याचिकाओं के औचित्य को स्पष्ट करते हुए माननीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री कृष्ण अय्यर ने कहा कि वादकारण और पीड़ित व्यक्ति की संकुचित धारणा का स्थान अब वर्ग कार्यवाही, लोकहित में कार्यवाही, प्रतिनिधिवाद लाने की विस्तृत धारणा ने ले लिया है।

पारम्परिक मत तो यही है कि भारतीय संविधान के अनु. 32 या अनु. 226 के अंतर्गत वही व्यक्ति उपचार प्राप्त कर सकता है जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण हुआ हो। परन्तु वर्तमान में इस नियम में परिवर्तन किया जा चुका है तथा अनु. 32 या अनु. 226 के क्षेत्र को विस्तारित किया गया है। यदि कोई व्यक्ति या समाज का वर्ग जिसको विधिक क्षति पहुँचाई गई है या विधिक अधिकारों का अतिक्रमण हुआ है और अपनी निर्धनता अथवा किसी अन्य कारण से अपने संविधानिक अधिकारों के संरक्षण के

लिये न्यायालय में जाने में असमर्थ हैं। वहां समाज का कोई अन्य व्यक्ति या संघ न्यायालय में उसको पहुँची विधिक क्षति के निवारण के लिये याचिका दायर कर सकता है।

न्यायमूर्ति श्री भगवती ने लोकहित याचिकाओं के संबंध में अपने अलौकिक मतैक्य को नजीर के रूप में सार्वभौमिकता प्रदान करते हुए कहा कि न्याय संपत्तियों का साम्राज्य नहीं है। न्यायालय के मंदिर जनसाधारण को आशीर्वाद एवं न्यायरूपी प्रसाद का वितरण करेंगे। लोकहित वाद की नवीन अवधारणा का मौलिक उद्देश्य समाज के दलित, पिछड़े एवं कमजोर वर्ग को न्याय रूपी प्रतिमा के दर्शन कराते हुए उन्हें न्याय के समान अवसर उपलब्ध कराना है। जिससे कमजोर वर्गों की सहायता हो सके।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय के उपर्युक्त दृष्टिकोण को दृष्टिगत रखते हुए कई लोकहित याचिकाएं, न्यायालयों में दायर की गईं। इन लोकहित याचिकाओं के द्वारा लोगों को काफी राहत मिली। न्यायालय ने इन लोकहित याचिकाओं के जरिए कई ऐतिहासिक निर्णय पारित करके बेबस और लाचार जनता के अधिकारों को संरक्षण प्रदान किया।

परन्तु इसका एक अन्य चिंताजनक पहलू यह है कि बड़े पैमाने पर लोकहित याचिकाओं का दुरुपयोग भी शुरू

हो गया और यह आरोप लगने लगा कि न्यायपालिका, कार्यपालका और विधायिका के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप कर रही है। इस पर संसद में कई बार तीखी बहस हुई। जिसमें संसद सदस्यों ने न्यायिक सक्रियता पर आपत्ति जताई।

किसी भी न्यायिक निर्णय को प्राधिकार दो स्रोतों से प्राप्त होता है। पहला विधिक प्रावधान जो उसे बंधनकारी बनाता है और दूसरा उसकी गुणवत्ता। बहुचर्चित केशवानंद भारती मामले में संविधान के मूल ढांचे की जो बातें कही गई थीं। वह सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं था बल्कि एक विचार था, जो कि आगे मिनर्वा मिल के मामले में मूल झलक के रूप में विकसित हुआ था।

लोकहित याचिका, न्याय सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में मान्य हो गई हैं। यह निष्क्रिय प्रशासन को सक्रिय करती है तथा कार्यपालिका के अवैध कार्यों पर रोक लगाती है। इससे व्यक्तियों के मौलिक अधिकार, विशेषकर जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को विस्तार मिला है। स्वयं माननीय सर्वोच्च न्यायालय के एस.पी. गुप्ता मामले को लोकहित मामलों का चार्टर और गरीबों को न्यायालय तक पहुंचने की मास्टर कुंजी कहा था। एम.सी. मेहता वाले मामले में माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने पीड़ित द्वारा लिखे गये पत्रों को भी याचिका के रूप में स्वीकार किया था। चूंकि ये पत्र लिखने वाले लोग गरीब थे जिन्हें अदालत की प्रक्रिया का ज्ञान नहीं था। ऐसे मामले में न्यायालय ने अपने जांच आयोग गठित कर, तथ्यों की पड़ताल करने का निर्देश दिया। सी.पी.सी. 1908 के आदेश 1 नियम 8 के अंतर्गत प्रतिनिधिवाद दायर करने की व्यवस्था है, किन्तु उसका दायरा सीमित है।

लोकहित मामलों में न्यायालय जांच करता है कि मामला लोकहित की कसौटी पर खरा उतरता है या नहीं। कुल न्यायाधीशों ने अपने आपत्ति साफ शब्दों में दर्ज कराई है। बंधुआ मुक्ति मोर्चा मामले में न्यायमूर्ति आर.एस. पाठक, शीलावास मामले में न्यायमूर्ति वैकंटचलैया आदि ने



लोकहित याचिकाओं के संबंध में चिंताजनक पहलू यह है कि आज लोकहित याचिकाओं का दुरुपयोग होने लगा है। अनावश्यक और सारहीन लोकहित याचिकाओं न्यायालयों में दायर कर दी जाती हैं। जब देश की किसी अदालत में कोई सारहीन याचिका स्वीकार कर ली जाती है तो वह ऐसी अनेक याचिकाओं के दाखिल होने का मार्ग प्रशस्त कर देती है। कुछ शहर में तो ऐसी याचिका दाखिल करने वाले लोग और अभिभाषक विशेषज्ञ के रूप में उभर आये हैं। प्रचार पाने अथवा किसी हस्ती को परेशान करने के इरादे से दायर की जाने वाली याचिकाओं के मामले में न केवल न्यायालय कुछ ज्यादा ही उदार है, बल्कि मीडिया भी अति सजग है। यह बात और है कि इससे कुल मिलाकर न्यायिक प्रक्रिया का मजाक ही उड़ता है। यह विचित्र है कि एक ओर तो हमारे न्यायालय लंबित मुकदमों के बोझ तले दबे हैं और वहीं दूसरी ओर ऐसी गैर जरूरी याचिकाओं को सुनने के लिये समय भी निकाल लेते हैं।



लोकहित याचिकाओं का दुरुपयोग रोकने के लिए याचिकाकर्ताओं की पृष्ठभूमि पर ध्यान रखने पर जोर दिया। लोकहित याचिका के पहले चरण में जोर निचले तबके के, विशेषकर कैदियों के अधिकारों पर था। वहीं दूसरे चरण में शासन जांच के दायरे में आया और सरकार



को जवाबदेह बनाने के लिये कई ऐतिहासिक निर्णय माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने दिये।

परन्तु लोकहित याचिकाओं के संबंध में चिंताजनक पहलू यह है कि आज लोकहित याचिकाओं का दुरुपयोग होने लगा है। अनावश्यक और सारहीन लोकहित याचिकायों न्यायालयों में दायर कर दी जाती हैं। जब देश की किसी अदालत में कोई सारहीन याचिका स्वीकार कर ली जाती है तो वह ऐसी अनेक याचिकाओं के दाखिल होने का मार्ग प्रशस्त कर देती है। कुछ शहर में तो ऐसी याचिका दाखिल करने वाले लोग और अभिभाषक विशेषज्ञ के रूप में उभर आये हैं। प्रचार पाने अथवा किसी हस्ती को परेशान करने के इरादे से दायर की जाने वाली याचिकाओं के मामले में न केवल न्यायालय कुछ ज्यादा ही उदार है, बल्कि मीडिया भी अति सजग है। यह बात और है कि इससे कुल मिलाकर न्यायिक प्रक्रिया का मजाक ही उड़ता है। यह विचित्र है कि एक ओर तो हमारे न्यायालय लंबित मुकदमों के बोझ तले दबे हैं और वहीं दूसरी ओर ऐसी गैर जरूरी याचिकाओं को सुनने के लिये समय भी निकाल लेते हैं।

आज इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि माननीय सर्वोच्च न्यायालय लोकहित याचिकाओं के संबंध में स्पष्ट दिशा-निर्देश जारी करें। ताकि जिन महान उद्देश्यों की खातिर लोकहित याचिका की अवधारणा को विकसित किया गया था। उसकी पूर्ति हो सके और न्याय प्रक्रिया का मखौल लड़ने से बचा जा सके।

निष्कर्ष : निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि पहले भारतीय संविधान के अनु. 32 या अनु. 226 के अंतर्गत वही व्यक्ति उपचार प्राप्त कर सकता था जिसके मूल अधिकारों का अतिक्रमण हुआ हो। परन्तु वर्तमान में इस नियम में परिवर्तन किया जा चुका है तथा अनु. 32 या

अनु. 226 के क्षेत्र को विस्तारित किया गया है। यदि कोई व्यक्ति या समाज का वर्ग, जिसको विधिक क्षति पहुंचाई गई है या विधिक अधिकारों का अतिक्रमण हुआ है और वह किसी वजह से न्यायालय में जाने में असमर्थ हैं। वहां समाज का कोई अन्य व्यक्ति या संघ न्यायालय में उसको पहुंची विधिक क्षति के लिये याचिका दायर कर सकता है।

परन्तु वर्तमान में कई अनावश्यक एवं लोकहित याचिकाएं सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के आशय से दायर कर दी जाती हैं। जिससे लोकहित याचिका की अवधारणा को गंभीर आघात पहुंचने के साथ-साथ न्याय प्रक्रिया का मखौल उड़ता है। ऐसी याचिकाओं के लिए माननीय सर्वोच्च न्यायालय के स्पष्ट दिशा निर्देश अपेक्षित हैं।

संदर्भ सूची

1. अखिल भारतीय रेल्वे शोषित कर्मचारी संघ बनाम भारत संघ ए.आई.आर. 1981 एस.सी. 298
2. बिहार लीगल सपोर्ट सोसाइटी बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1987 एस.सी. 38
3. केशवानंद भारतीय बनाम संघ, ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789
5. एस.पी. गुप्ता और अन्य बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1982 एस.सी. 149
6. एस.सी. मेहता बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1984 एस.सी. 803
7. बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1984 एस.सी. 803 3, 596
8. शीला वार्से बनाम चिल्ड्रेन एंड सासाइटी (1986)

लेखक शासकीय नेहरू महाविद्यालय
अशोकनगर में विधि के व्याख्याता हैं।



"History doesn't repeat itself - at best it sometimes rhymes"

- Mark Twain



दलित चेतना के प्रेरणास्रोत डॉ. भीमराव अम्बेडकर

● मनोज कुमार

डॉ. अम्बेडकर स्वयं उस वर्ग के थे, जो सामाजिक अन्याय, कुरूपताओं, विषमताओं और वंचनाओं के भुक्तभोगी थे और इन्हीं विषमताओं ने उन्हें निरन्तर लड़ने और उन्हें दूर करने की शक्ति दी। अम्बेडकर जीवनभर सामाजिक समरसता की बात करते रहे। वे चाहते थे कि दलित वर्ग को समाज की मुख्यधारा में शामिल किया जाए और उन्हें भी वही अधिकार प्राप्त हों जो समाज की मुख्यधारा के लोगों को है। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि दलितों को समाज में समानता का अधिकार तभी मिल सकता है जब वे शिक्षित होंगे। विकास के लिये वे शिक्षा को पहली सीढ़ी मानते थे।

डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय और सामाजिक विषमताओं के प्रति चेतना उद्बलित कर एक दिशा देने की पहल सौ वर्ष से कुछ कम साल पहले ही कर दी थी। यह समय था जब भारत पराधीन था। वे यह मानते थे कि दलित समाज की स्वीकार्यता तब संभव होगी जब वह आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर स्वतंत्र होगा। इस सोच के साथ वे दलित समाज को सशक्त और सक्रिय बनाने में जुट गये। उनकी सक्रियता का ही परिणाम था कि भारतीय संविधान निर्मात्री सभा की प्रारूप समिति की अध्यक्षता करने का अवसर मिला और बाद में वे भारत के कानून मंत्री भी बने। भारतीय संविधान का निर्माण करने वाले डॉ. अम्बेडकर आज न केवल दलित समाज के लिये बल्कि समूचे भारतीय समाज के प्रेरणास्रोत के रूप में याद किये जाते हैं।

डॉ. अम्बेडकर स्वयं उस वर्ग के थे, जो सामाजिक अन्याय, कुरूपताओं, विषमताओं और वंचनाओं के भुक्तभोगी थे और इन्हीं विषमताओं ने उन्हें निरन्तर लड़ने और उन्हें

दूर करने की शक्ति दी। अम्बेडकर जीवनभर सामाजिक समरसता की बात करते रहे। वे चाहते थे कि दलित वर्ग को समाज की मुख्यधारा में शामिल किया जाए और उन्हें भी वही अधिकार प्राप्त हों जो समाज की मुख्यधारा के लोगों को है। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि दलितों को समाज में समानता का अधिकार तभी मिल सकता है जब वे शिक्षित होंगे। विकास के लिये वे शिक्षा को पहली सीढ़ी मानते थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में दलित समाज में शिक्षा के प्रसार के लिये अनेक स्तरों पर प्रयास किया। दलित समाज को जागरूक बनाने के लिये उन्होंने एक अखबार का प्रकाशन-सम्पादन भी किया। 1923 में 'बहिष्कृत भारत' नाम से अखबार का प्रकाशन आरंभ किया। इस अखबार के माध्यम से अपने विचारों को आम आदमी तक पहुँचाने का प्रयास किया। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि किताबें मनुष्य को विचारवान बनाती हैं। उन्होंने दलित समाज से अवगत कराने के लिये कुछ किताबों का लेखन भी किया जिसमें दी अनटेचेनल्स, हू आर दे, हू आर दी



शुद्रा, दस स्पोक अम्बेडकर, इमेनसिपेशन ऑफ दी अनटेचेनलस प्रमुख हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की स्थिति को सुधारने के लिये दलित स्त्रियों की भूमिका को महत्वपूर्ण माना। 20 मार्च, 1927 को महद में आयी स्त्रियों को अम्बेडकर का



डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की स्थिति को सुधारने के लिये दलित स्त्रियों की भूमिका को महत्वपूर्ण माना। 20 मार्च, 1927 को महद में आयी स्त्रियों को अम्बेडकर का सम्बोधन था, “कभी मत सोचो कि तुम अछूत हो, साफ-सुथरे रहो जिस तरह के कपड़े सवर्ण स्त्रियां पहनती हैं, तुम भी पहनो। यह देखो कि वे साफ हैं यदि तुम्हारे पति शराब पीते हैं तो उन्हें खाना मत दो। अपने बच्चों को स्कूल भेजो। शिक्षा जितनी जरूरी पुरुषों के लिये है उतनी ही स्त्रियों को लिये भी आवश्यक है।”



सम्बोधन था, “कभी मत सोचो कि तुम अछूत हो, साफ-सुथरे रहो जिस तरह के कपड़े सवर्ण स्त्रियां पहनती हैं, तुम भी पहनो। यह देखो कि वे साफ हैं यदि तुम्हारे पति शराब पीते हैं तो उन्हें खाना मत दो। अपने बच्चों को स्कूल भेजो। शिक्षा जितनी जरूरी पुरुषों के लिये है उतनी ही स्त्रियों को लिये भी आवश्यक है। यदि तुम लिखना-पढ़ना जान जाओ, तो बहुत उन्नति होगी। जैसी तुम होगी, वैसे ही तुम्हारे बच्चे बनेंगे। अम्बेडकर के इन प्रयासों का असर दलित समाज पर हुआ और उनमें बदलाव देखा जाने लगा। डॉ. अम्बेडकर जाति व्यवस्था के घोर विरोधी थे। जाति व्यवस्था को तोड़ने के लिये उनका सुझाव था पुजारी

एक जाति से नहीं होना चाहिये बल्कि इस पद का प्रजातांत्रिक बना दिया जाना चाहिये। उनका विश्वास था कि यह कदम जाति व्यवस्था को तोड़ देगा। वे इस बात पर भी जोर देते थे कि जाति प्रथा को नष्ट करने का एक ही मार्ग है अर्न्तजातीय विवाह न कि सहभोज। खून का मिलना ही अपनेपन की भावना ला सकता है।”

भारतीय संविधान में 15, 16 और 17 अनुच्छेद में उन्होंने दलित विद्यार्थियों के लिये कई सिफारिशें की थीं। 1930 की एक समिति ‘स्टारेट समिति’ में देखा जा सकता है। जहाँ सदस्य के रूप में उन्होंने सुझाव दिया था, ‘दलित छात्रों के वजीफों की संख्या बढ़ाई जाये, उनके छात्रावासों की व्यवस्था की जाये, उन्हें कारखानों, रेलों की कार्यशालाओं और अन्य ट्रेनिंग के लिये वजीफे दिये जायें, विदेश में इंजीनियरिंग पढ़ने के लिये वजीफा दिया जाये और सभी कार्यों की देखभाल के लिये एक अधिकारी नियुक्त किया जाये।’ यही पृष्ठभूमि आगे चल कर राज्य के सामाजिक अन्यायों को दूर करने के लिये एक हस्तक्षेप की भूमिका का आधार बने।

डॉ. अम्बेडकर ने दलित समाज के विकास के लिये जो पहल की है, आज उसका ही प्रभाव है कि केन्द्र और राज्य सरकारें दलित समाज के विकास के लिये आगे आकर कोशिशें कर रही हैं। हालांकि यह कोशिशें जरूरत के अनुरूप नहीं हैं। इसे विस्तार देने की जरूरत है। साथ ही राजनीतिक दलों की इस मानसिकता को भी बदलने की जरूरत है कि दलित समाज वोट बैंक है बल्कि इन्हें भी समाज की मुख्यधारा में शामिल कर संविधान के अनुरूप उन्नति का अवसर प्रदान किया जाए। दलित समाज में शिक्षा का विस्तार हो रहा है और यही शिक्षित दलित समाज स्वयं होकर अपना अधिकार लेगी, यह उम्मीद की जाना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर का सपना यही था कि दलित, दलित न रहकर मुख्यधारा में शामिल हो जाएं।

लेखक स्वतंत्र पत्रकार हैं।





बंदी व्यथा

व्यक्ति राष्ट्र, राज्य, प्रकृति, हित, यह मानव अधिकार गढ़ा है।
शोषित, वृद्ध, शिशु, सारंग का, जो अविचल, अवलम्ब बना है।।
वसुधैव कुटुम्बकम्, मानवीयता, है यह इसकी भाव प्रणाली।
हिल-मिल सुख से अखिल धरा पर, निर्भय हो जीवन जीवें प्राणी।।
विषय आज है बंदी व्यस्था का, मुक्ति कब कैसे मिलेगी।
कुंठित पीड़ित व्यथित ज़िन्दगी, क्या? तिल-तिल यही खपेगी।।
असमंजस में वर्तमान है, धूमिल भविष्य दिखा है।
निश्चित मुक्ति की पीड़ा ने, अंतस को आज डसा है।।
पैरोलों की घटी है अवधि, प्रावेशन बंद पड़ा है।
कठिन राह पर मन को मारे, बंदी चुपचाप खड़ा है।
स्वच्छ कर्म, आचार हों जिनके, उन्हें राष्ट्र की दे दो माफी।
भुगती सजा में उसे जोड़ दो, तो ये दण्ड घटेगा काफ़ी।।
अवधि बढ़े गर पैरोलों की, तो समाज-सौजन्य बनायें।
मिले रिहाई प्रवेशन से, सब बंदी देंगे दुआएँ।।
परिजन व बच्चे बंदी के, आयोग की ओर निहारे।
कर्णधारों के सद्-प्रयास से, खुल जाएँ जेल के द्वारे।।
जन्म हुआ हो भले कृष्ण का, उन्हें न भाया कारागार।
पल भर भी वो रुक न पाये, तो यमुना पार उतारा।।
वनवास भोग समय सीमा में, लखन राम घर आये।
दीपक दहरी ले द्वार खड़ी, उर्मिला के प्राण लौटाये।।
हम सबकी करबद्ध विनय है, कारागार से हमें उबारो।
विधि सम्मत व मानव हित में, कुछ सरल से नियम संवारो।।

बंदी महिपाल सिंह पुत्र स्व. हरनाम सिंह
केन्द्रीय जेल भोपाल



कब भरोसे लायक होगी हमारी पुलिस व्यवस्था

• भानु दवे

हमारे यहाँ तो चौबीस घण्टे पुलिस वाले वर्दियों से लदे फदे रहते हैं फिर भी निष्क्रियता क्यों नजर आती है, समझ नहीं आता है। शायद अमेरिका में निश्चित आठ घंटे की पुलिसिया नौकरी होती है। हमारे यहाँ काम के घंटे निर्धारित न होना भी एक कारण हो सकता है। हमारे भारत में जैसे ईमानदार पुलिस अधिकारियों, कर्मचारियों की कमी नहीं है किन्तु मामला जस का तस है। भारतीय दण्ड संहिता जो कभी 1862 के आसपास से लागू है कुछेक परिवर्तन उसमें 1973 में किये गये, सब कुछ वहीं का वहीं है।

हाल ही में आए उच्चतम न्यायालय के निर्णय में यह कहा कि किस कारण से पुलिस की साक्ष्य को नहीं माना जाए, निर्णय में यह भी कहा गया है - क्या पुलिस कर्मचारी अधिकारी मनुष्य नहीं हैं? क्या वह भारतीय नहीं हैं? पुलिस साक्ष्य को आम भारतीय अदालतें अविश्वसनीय मानती रही हैं फिर आम जनता में पुलिस की छवि स्पष्ट कैसे उकेर सकते हैं।

भारतीय पुलिस की छवि दिन-प्रतिदिन निखरना चाहिए थी किन्तु वैसा नहीं हो पा रहा है। पुलिस यहाँ न तो जनता का सम्मान पा रही है न शासन का।

मैंने अपने लम्बे अमेरिका प्रवास के समय वहाँ के जीवन में समरस होने का प्रयास किया तो पुलिस की गतिविधियाँ भी देखीं। आम पुलिसजन वहाँ सड़क के किनारे गाड़ी साईड किये दिखते हैं। उनका मकसद ट्रेफिक नियमों के उल्लंघन करने वालों को चालान रसीद पकड़ाने जितना है, किन्तु आम जीवन में पुलिस तभी प्रवेश करती है जब 911 नम्बर डायल किया जावे। यदि पुलिस को अपने सूचना दी है तो तत्काल हाजिर भी हो जावेगी व तत्काल समाधान।

हमारे यहाँ तो चौबीस घण्टे पुलिस वाले वर्दियों से लदे फदे रहते हैं फिर भी निष्क्रियता क्यों नजर आती है,

समझ नहीं आता है। शायद अमेरिका में निश्चित आठ घंटे की पुलिसिया नौकरी होती है। हमारे यहाँ काम के घंटे निर्धारित न होना भी एक कारण हो सकता है। हमारे भारत में जैसे ईमानदार पुलिस अधिकारियों, कर्मचारियों की कमी नहीं है किन्तु मामला जस का तस है। भारतीय दण्ड संहिता जो कभी 1862 के आसपास से लागू है कुछेक परिवर्तन उसमें 1973 में किये गये, सब कुछ वहीं का वहीं है।

पुलिस की हालत जब ब्रितानी हुकुमत थी तो उस सत्ता की रक्षा करना रहा होगा, आज भी सत्ता के इशारे पर पुलिस काम कर रही है। खुद का विवेक लकवाग्रस्त हो रहा है। अंग्रेजों ने तो सत्ता का विशाल ढांचा खड़ा किया था उसकी सुरक्षा के लिये पुलिस का ढांचा खड़ा किया था किन्तु लोकतन्त्र में सत्तारूढ़ दल ने अपनी सत्ता और सर्वोच्चता की सुरक्षा का साधन बना लिया। दण्ड प्रक्रिया संहिता में केवल मामूली सा बदलाव लाने के बाद भी वहीं डेढ़ सौ वर्षों से वहीं का वहीं है।

हकीकत यह है कि स्वतंत्रता के बाद भी हमारे सत्ताधीशों ने पुलिस को जनता की सेवा के अनुरूप नहीं ढाला और न ही पुलिस को विश्वसनीय बनाने के प्रयास किये गये। जो प्रयास हुए वे चुनाव के पश्चात भुला दिये गये नतीजा कागजी प्रयास कागजी निकले, पुलिस वो कि



वो ही रही। सच यही लगता है कि आम जनता, विपक्षी नेता, प्रेस और यहाँ तक कि न्यायपालिका भी पुलिस की चर्चा उसकी कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी और अच्छे कार्य को लेकर उतनी नहीं करते, जितनी उसकी कमियों और दुर्व्यवहार को लेकर करते हैं। इसके पूरे विभाग की छवि धूमिल होती रहती है। इसका अहम कारण यह है कि पुलिस पर किसी का विश्वास ही नहीं है, यहाँ तक कानून का भी नहीं।

पुलिस समाज व्यवस्था में सामंजस्य बनाने वाली, कानूनों को लागू करने में महत्वपूर्ण कड़ी है, जो जनता के सीधे सम्पर्क में आती है। वह अपराधी का पता लगाकर, उसके विरुद्ध साक्ष्य जुटाती है और अपनी रपट न्यायालय में पेश करती है। विडम्बना यह है कि जांच के आधार पर न्यायालय में पेश की गई पुलिस रिपोर्ट में शामिल गवाहों के लिखित बयानों पर न्यायालय विश्वास नहीं करते हैं।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 व 162 में स्पष्ट लिखा हुआ है कि पुलिस की ओर से यदि किसी गवाह के बयान लिखे जाते हैं तो उसके हस्ताक्षर नहीं करवाए जाएंगे। ऐसे बयानों का न्यायालय में कोई विशेष महत्व नहीं है जब तब कि संबंधित गवाह न्यायालय में उनकी पुष्टि न कर दे। इसी प्रकार भारतीय साक्ष्य की धारा 25 व 26 के अनुसार किसी अपराधी द्वारा पुलिस हिरासत में पुलिस के सामने अपराध स्वीकार करने पर उसकी न्यायालय में कोई मान्यता नहीं होती है, जबकि ऐसा बयान किसी मजिस्ट्रेट के सामने दिया हो हालांकि अमेरिका व पश्चिम के देशों में ऐसा नहीं है।

अमेरिका में इस सम्बन्ध में कानूनी स्थिति सर्वोच्च न्यायालय द्वारा “मीराण्डा बनाम एरिजोना” के मामले में स्पष्ट की गई है। इसे मीराण्डा अधिकार के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार पुलिस कस्टडी में किसी व्यक्ति द्वारा अपराध स्वीकार करने सम्बन्धी दिया गया बयान उसक विरुद्ध साक्ष्य में तभी मान्य होता है, जब पुलिस द्वारा उसे बयान देने से पूर्व चेतावनी दे दी गई हो कि वह अपने स्वयं के विरुद्ध किसी प्रकार का बयान देने के लिये बाध्य

नहीं है और यदि वह चाहे तो वकील की सेवा भी ले सकता है। अमेरिका एवं पश्चिमी देशों में पुलिस हिरासत में अपराधी द्वारा अपराध करने सम्बन्धी की गई स्वीकारोक्ति उसके विरुद्ध साक्ष्य में ग्राह्य मानी गई है। बशर्ते वह बिना किसी दबाव व धमकी के की गई हो। हमारे देश में इस संबंध में 1972 में अंग्रेजों द्वारा बनाया गया साक्ष्य अधिनियम आज भी लागू है जबकि अंग्रेजों ने अपने देश में 1984 में ही नया साक्ष्य अधिनियम लागू कर दिया था। इससे साफ जाहिर होता है कि हमारी पुलिस के चरित्र के पतन एवं उसे अविश्वसनीय बनाने के लिये सामूहिक रूप से हम सब जिम्मेदार नहीं हैं। दुर्भाग्य से हमारे देश में तो आम धारणा यह बन गई है कि पुलिस अपने रौब व डण्डे से किसी से भी कुछ भी उगलवा सकती है।

आखिर हम कब तक अपनी पुलिस को अविश्वासी बनाकर रखेंगे? जिस पर हमारा विश्वास ही नहीं है? यदि पुलिस के बारे में हमारी मानसिकता में बदलाव लाना है उसे अधिक प्रभावशाली एवं संवेदनशील बनाना है और आमजन में पुलिस की छवि सुधारना है, तो पुलिस पर विश्वास नहीं करने संबंधी कानूनों में ऐसे बदलाव करना होंगे, जिससे मुलजिम के अधिकारों की रक्षा हो सके।

मुलजिम द्वारा पुलिस कस्टडी में दिय गये बयान पर न्यायालय विश्वास भी कर सके। इससे हमारे भीतर पुलिस के प्रति बनी अविश्वास आम धारणा धीरे-धीरे हटेगी। साथ ही, पुलिस को जनता के रक्षक के रूप में पश्चिमी देशों की तरह अपने व्यवहार व क्रिया कलापों में जनता की अपेक्षाओं के अनुरूप बदलाव जाने और मानवीय स्वरूप को विकसित करने का अवसर भी मिल सकेगा।

भारत में जो राजनीतिक दल इस दिशा में ठोस व ईमानदार पहल करेगा, उसका नाम पुलिस सुधारों के इतिहास में अमिट रहेगा।

- लेखक नीमच जिले के
आयोग मित्र संयोजक है।

□ □ □



शैक्षणिक संस्थाओं में रैगिंग :

मानव अधिकारों पर कलंक

● डॉ. गीता सराफ

भारत की संस्कृति, विश्व सभ्यता की श्रेणी में अग्रणी मानी जाती है। भारतीय सभ्यता के लिये कहा जाता है कि उसने विश्व को नई राह दिखाई है एवं सभ्य समाज के रूप में चलना सिखाया है। यही सांस्कृतिक विरासत भारतीय समाज द्वारा अपने परिवार के बच्चों को दी जाती है। मगर भारतीय युवा पीढ़ी जिस प्रकार के रंग-ढंग को अपना रही है उसी से उच्छृंखलता, उनके जीवन का हिस्सा बनती जा रही, जिसके परिणामस्वरूप रैगिंग जैसे मानव अधिकारों का उल्लंघन करने वाली पद्धति को वे अपना रहे हैं। युवा पीढ़ी को उनके माता-पिता द्वारा शिक्षण संस्थानों में इसलिये भेजा जाता है कि वे समाज के लिये उपयोगी, शिष्ट एवं सुसंस्कृत व्यक्ति बनें, लेकिन पिछले कुछ दशकों से कॉलेज एवं विश्वविद्यालयों में नए छात्र-छात्राओं के साथ रैगिंग के नाम पर जो कुछ होता है, उससे सिर शर्म से झुक जाता है।

रैगिंग, मानव अधिकारों पर कलंक है, जो कि शैक्षणिक संस्थाओं में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं के मन में भय एवं कुण्ठाओं को जनम देते हैं। हिंसा का रूप अख्तियार करती जा रही रैगिंग, युवा छात्र-छात्राओं की विकृत होती मानसिकता का परिचायक है। आधुनिकता के नाम पर अश्लील हरकतें, पीड़ित को शारीरिक नुकसान तो पहुंचाती ही हैं, उससे कहीं ज्यादा नुकसान मानसिक स्तर पर होता है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने गए युवा छात्र-छात्रा, ऐसी हरकतों के जरिए किस तरह से देश के विकास में भागीदार बनेंगे, यह सोचनीय हो गया है। जो छात्र-छात्राएं कोमल मन के होते हैं वे रैगिंग के परिणामस्वरूप आत्महत्या करने जैसे कदम उठा लेते हैं तथा ऐसे छात्र-छात्राएं जो आत्महत्या कर लेते हैं वे भारी मन के साथ दुनिया को अलविदा कह

जाते हैं, मगर उनके पीछे उनका पूरा परिवार सदियों तक रैगिंग की आग में झुलसता रहता है। रैगिंग के परिणामस्वरूप कई प्रतिभावान छात्र-छात्राएं, उच्च शिक्षा में कड़ी प्रतिस्पर्धा के बाद पायी हुई सीट को छोड़ देते हैं, जिससे उनके माता-पिता की गाड़ी कमाई का पैसा तो व्यर्थ चला जाता है और उनके सारे सपने भी ढह जाते हैं।

माननीय सर्वोच्च न्यायालय के स्पष्ट निर्देशों के बावजूद भी भारत के शैक्षणिक संस्थाओं में इस प्रकार की घटनाएं हो रही हैं तथा हर बार की तरह महाविद्यालय प्रशासन एवं संबंधित विश्वविद्यालय का प्रशासन यह कहकर पल्ला झाड़ लेते हैं कि उन्हें अपने यहाँ घटित होने वाली घटनाओं की जानकारी नहीं थी और ऐसा कहकर वे अपने दामन के दाग को साफ करने की कोशिश करते हैं या फिर



दो चार छात्र-छात्राओं को महाविद्यालय से कुछ समय के लिये सस्पेंड कर देते हैं, जिसके कारण हालात जस के तस रहते हैं। हर साल रैगिंग को लेकर ज्यादातर प्रकरण मेडिकल और इंजीनियरिंग कॉलेज में सुनाई देते हैं। हर जूनियर छात्र एक वर्ष तक अपने सीनियर की ज्यादाती झेलते हुए चुप रहने को बाध्य होता है क्योंकि उन्हें अपना पहला वर्ष खराब होने का डर बना रहता है। कोई इसके विरोध में सामने आने को तैयार नहीं होता लेकिन हर जूनियर, सीनियर बनते ही रैगिंग लेने के लिये तैयार हो जाते हैं, यह कहते हुए कि हमने भी भुगता है, उसका बदला तो लेंगे ही। इस तरह का यह सिलसिला कभी थमता ही नहीं। युवा छात्र-छात्राओं का यह आचरण मानवीय सभ्यता के विपरीत है। मानवीयता के विपरीत जा रही इस सामाजिक विकृति को हर हाल में रोकना चाहिए।

कई मामले उजागर होते हैं लेकिन कुछ दिनों को हो-हल्ला के बाद गुम हो जाते हैं एवं कुछ दिनों के लिये मीडिया की सुर्खियाँ बनी रहती हैं। इस प्रकार हम भारत जैसे देश में शैक्षणिक संस्थाओं में होने वाले रैगिंग के नासूर को खत्म करने में असमर्थ रहते हैं। इसके लिये जरूरी है कि भारत के महाविद्यालयों को राज्य सरकार द्वारा नए शैक्षणिक सत्र शुरू होने से पहले ही चिन्हित कर लें तथा जिन होस्टलों एवं कॉलेजों में इस प्रकार की घटनाएं पूर्व में घटित हो चुकी हों या जहाँ पर इस प्रकार की घटनाओं का अंदेशा हो वहाँ पर पुलिस चौकियाँ अथवा पुलिस गश्त पाबंद कर, नियुक्त किया जाय और उस बीट अफसर को व कॉलेज के प्रिंसिपल, वाईस प्रिंसिपल एवं होस्टल वॉर्डन को व्यक्तिगत तौर पर पाबंद किया जाय, ताकि भविष्य में अगर कोई भी रैगिंग की घटना घटित होती है तो समस्त हर्जाने की जिम्मेदारी उनकी हो तभी रैगिंग जैसी घटनाओं को कुछ हद तक कम किया जा सकता है। व्यक्तिगत जिम्मेदारी होने पर कार्यों के प्रति लापरवाही बरतने वाले

अधिकारियों पर न सिर्फ लगाम लगेगी वरन् उन्हें जीवन भर उनके कृत्यों की सजा भी मिलेगी। रैगिंग करने वाले छात्रों की समस्त डिग्रियों को भी हमेशा के लिये रद्द किये जाने का भी प्रावधान किया जाना चाहिए, जिससे इस प्रकार के समाज विरोधी तत्व दुबारा से किसी भी शिक्षा के मंदिर को अपवित्र न कर सकें। इसके साथ-साथ अब समया आ गया हमारे शिक्षण संस्थानों में नैतिकता की शिक्षा भी दी जाय खासकर मेडिकल और इंजीनियरिंग कॉलेज में इसे अनिवार्य विषय के रूप में शामिल किया जाय। इस संदर्भ में पूर्व राष्ट्रपति महामहिम डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के जीवन की एक घटना का उल्लेख करना यहाँ सामायिक होगा - जब डॉ. कलाम इंजीनियरिंग पढ़ने के लिये मद्रास गए तो उनके प्रोफेसर ने उनसे कहा कि तकनीकी शिक्षा प्राप्त करके तो तुम एक अच्छे इंजीनियर बनोगे, किन्तु यदि अच्छे इंसान भी बनना चाहते हो तो तुम्हें साहित्य भी पढ़ना चाहिए। प्रोफेसर की इस बात को डॉ. अब्दुल कलाम ने जीवन भर याद रखा और इंजीनियरिंग की पढ़ाई के साथ-साथ साहित्य को भी अपने जीवन में शामिल किया, जिसका असर हम उनके जीवन एवं उनके कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं।

अतः कॉलेज में साहित्य, संस्कृति और कला जैसे मानवीय भावनाओं से जुड़े विषयों को भी पढ़ाया जाना चाहिए ताकि हमारी युवा पीढ़ी यह समझे कि आधुनिकता का अर्थ अनाचरण नहीं होता। श्रेष्ठ आचरण के बिना शिक्षा अधूरी है और जब तक हम कठोर कदम नहीं उठाएंगे, रैगिंग जैसे मानव अधिकारों के विरुद्ध कृत्य चलते रहेंगे।

- लेखिका सहायक प्राध्यापक (राजनीति शास्त्र)
पंडित शंभूनाथ शुक्ल शास. स्नातकोत्तर है
महाविद्यालय शहडोल में

□ □ □



महिलाओं का सामाजिक परिवेश और अधिकार

● संजय कुमार विश्वकर्मा

भारतीय संस्कृति में महिलाओं का क्षेत्र गृह की चहारदीवारी में रहा है। भारत की प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नई चुनौती यह है कि महिलाओं की प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं में भी सहभागीता बढ़े। इस दिशा में संतुलन की भी आवश्यकता है कि महिलाओं का दायरा घर की चहारदीवारियों से पूर्ण रूप से हटकर केवल बाहरी जीवन में न चला जाय तथा परिवार में जो मानवीय मूल्यों का संवर्धन एवं संरक्षण करते आ रही थी उससे वह पूर्ण रूप से विलग न हो। परिवार के मानवीय मूल्यों की संरक्षक के साथ ही प्रजातांत्रिक प्रणाली की सभी संस्थाओं में महिलाओं से दोहरा उत्तरदायित्व निभाना अपेक्षित है। भारत केवल महिला सशक्तिकरण से संतुष्ट नहीं है, उसे तो परिवार और समाज के सर्वांगीण विकास में पुरुषों के साथ महिलाओं की सहभागीता की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि भारतीय महिलाएँ पाश्चात्य संस्कृति की नकल कर पुरुष को अपना प्रतिस्पर्धी और प्रतिद्वंद्वी मानकर सशक्तिकरण कार्यक्रम, उठायगी तो उससे सामाजिक द्वंद्व ही उत्पन्न होगा।

विश्व स्तर पर यह अनुभव और अध्ययन हुए हैं कि महिलायें दोगम दर्जे की नागरिक हैं एवं विशेष रूप से प्रजातांत्रिक देशों में उनकी सहभागीता उनकी आबादी के अनुपात में नहीं है। पुरुष प्रधान समाज में उसे अपने विकास के समुचित अवसर भी उपलब्ध नहीं हैं। मानव के रूप में स्त्रियों और पुरुषों की क्षमता एवं योग्यता समान होने से उनमें भेदभाव नहीं किया जा सकता है। विश्व में महिलाओं के विकास में अड़चनों का विचार कर उसके सशक्तिकरण के कार्यक्रम उठाने की आवश्यकता हो गई है।

जनसंख्या में महिलाओं का अनुपात घट रहा है जो समाज के विकास एवं निरंतरता के लिए खतरा है। विद्यमान कानून में भ्रूण स्वस्थ है या नहीं तथा स्वस्थ बच्चे को जन्म देगा, इससे जानने के लिए प्रयोगशाला में भ्रूण परखने की अनुमति है, परन्तु इस आधार पर स्थापित प्रयोगशालाओं में माता-पिता द्वारा केवल शिशु के लिंग चुनाव के लिये प्रयोग अवैधानिक है।

बाल विवाह रोकने के लिए यह आवश्यक है कि

बालिकाओं के स्वास्थ्य, शिक्षण तथा सुरक्षा के उपाय किये जायें ताकि अभिभावक उसे मानसिक और शारीरिक रूप से सक्षम होने के पश्चात ही उसकी इच्छा का आदर करते हुए उसका विवाह करें। इस दिशा में अभी हम प्रदेश सरकार द्वारा जो प्रयास किये जा रहे हैं वो प्रशंसनीय हैं। महिलाओं की घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम माध्यम से परिवारों को जोड़ने न कि तोड़ने के प्रयास किया जाना आवश्यक है, इस हेतु समझाइश-सुलह एवं माध्यमों को प्रोत्साहित किये जाने की आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति में महिलाओं का क्षेत्र गृह की चहारदीवारी में रहा है। भारत की प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नई चुनौती यह है कि महिलाओं की प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं में भी सहभागीता बढ़े। इस दिशा में संतुलन की भी आवश्यकता है कि महिलाओं का दायरा घर की चहारदीवारियों से पूर्ण रूप से हटकर केवल बाहरी जीवन में न चला जाय तथा परिवार में जो मानवीय मूल्यों का संवर्धन एवं संरक्षण करते आ रही थी उससे वह पूर्ण रूप से विलग न हो।



परिवार के मानवीय मूल्यों की संरक्षक के साथ ही प्रजातांत्रिक प्रणाली की सभी संस्थाओं में महिलाओं से दोहरा उत्तरदायित्व निभाना अपेक्षित है। भारत केवल महिला सशक्तिकरण से संतुष्ट नहीं है, उसे तो परिवार और समाज के सर्वांगीण विकास में पुरुषों के साथ महिलाओं की सहभागिता की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि भारतीय महिलाएँ पाश्चात्य संस्कृति की नकल कर पुरुष को अपना प्रतिस्पर्धी और प्रतिद्वंद्वी मानकर सशक्तिकरण कार्यक्रम, उठाएगी तो उससे सामाजिक द्वंद्व ही उत्पन्न होगा। महिलाओं से पुरुषों के साथ प्रतिस्पर्धी नहीं, बल्कि अपने नैसर्गिक गुणों और स्वभाव अनुकूल सहकार्य की अपेक्षा होगी।

महिलाओं के विरुद्ध उनके उत्पीड़न, हिंसा, अन्याय, उपेक्षा एवं उनके मानव अधिकारों के उल्लंघन की रोकथाम के लिए निरन्तर कानून बनते जा रहे हैं और उनमें समयानुकूल संशोधन किये जा रहे हैं। इन विषयों पर कानूनों का बाहुल्य भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों के निरन्तर हास को उजागर करता है। वर्तमान परिवेश में भारत में कानून निरंतर आगे बढ़ रहे हैं और उसकी तुलना में पुरुष-स्त्रियों की मानसिकता, संकीर्ण सोच दोषपूर्ण रुढ़ियाँ और रीति-रिवाज समाज को पीछे रखे हुए हैं। जिस मात्रा में समाज में नैतिक मूल्यों का संरक्षण और संवर्धन होता है, कानून उस सीमा तक कारगर सिद्ध होते हैं और शनैः शनैः उनकी आवश्यकता कम होती जाती है। पुरुषों के पारिवारिक और सामाजिक संबंधों में माधुर्य उत्पन्न करने में वर्तमान कानून किस सीमा तक समाये हुए हैं यह एक शोध और विवेचना का विषय है।

भारतीय समाज में महिलाओं के सामाजिक परिवेश को संतुलित करने में विवाह संबंधी कानून, दहेज प्रतिशोध अधिनियम, 1961, घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम 2005, कार्य स्थल पर यौन उत्पीड़न से रक्षा, महिलाओं को सम्पत्ति में अधिकार, भ्रूण परीक्षण, लिंग पहचान एवं भ्रूण हत्या रोक पर कानून, अशोभनीय तरीके से महिलाओं के अंगों-प्रत्यंगों के प्रदर्शन पर रोक अधिनियम, 1986 आदि।

और भी अन्य कानूनों के माध्यम से प्रयास किये जा रहे हैं। शासन-प्रशासन भी अपने स्तर से विभिन्न योजनाओं के माध्यम से महिला की स्थिति सुधारने और समाज में उनकी सशक्त सहभागिता के लिये प्रयासरत है। शासन के सभी अंग अपनी भूमिका का निर्वहन संवेदनशील रूप से करें तो अवश्य ही महिलाओं को उनके सभी अधिकार संरक्षित करने में सफलता मिलेगी।

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग का यह प्रयत्न रहा है कि अधिकारों से वंचित समाज के प्रत्येक व्यक्ति को संरक्षण प्रदान किया जाए। महिलाओं के सामाजिक परिवेश और अधिकार विषय पर केन्द्रित इस कार्यक्रम के पीछे भी यही उद्देश्य रहा है कि हमारे प्रदेश में भी महिलाओं को उनके अधिकार दिलाने में शासन के समस्त अंग संवेदनशील भूमिका का निर्वाह करें।

वर्ष 1948 में 10 दिसम्बर को मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गई थी, जिसमें भारत भी सदस्य राष्ट्र के रूप में उन सभी घोषणाओं के कियान्वयन के लिए कृत संकल्पित रहा है। हमारे संविधान में प्रदत्त मूलभूत अधिकार और राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में भी उन सभी तथ्यों का समावेश है जो कि संयुक्त राष्ट्र की मानव अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा-पत्र में दी गई है। आज पूरे विश्व में विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से मानव अधिकारों के संरक्षण व संवर्धन के लिए प्रयास जारी हैं। इसी श्रृंखला में मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग ने यह प्रयास किया है कि महिलाओं को उनका अधिकार प्रदान करने के सभी प्रयासों के प्रति समाज को और अधिक संवेदनशील किया जाए, इस कारण से ही यह कार्यक्रम शासन के महिला एवं बाल विकास विभाग के समन्वय से किया गया।

(लेखक आयोग में शोध अधिकारी हैं)
(अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार दिवस, 10 दिसम्बर वर्ष
2011 के परिप्रेक्ष्य में)





भारतीय महिलायें - कल और आज

● उमेश शर्मा

भारत में तीसरी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक का युग हिन्दु धर्म शास्त्रों का युग कहलाता है भारत में इस युग में महिलायें सामाजिक एवं संकीर्ण विचारधारा की शिकार बनी। वैदिक काल की सरस्वती माता, लक्ष्मी माता एवं शक्ति प्रदायनी देवी की प्रतीक महिला अब याचिका, सेविका तथा अबला के रूप में दिखाई देने लगी। वैदिक काल की वह महिला जो अपने प्रबल व्यक्तित्व के कारण देश के साहित्य और समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी परतंत्र, पराधीन, निसहाय और निर्बल बन चुकी थी। महिला की पहचान एक पिता की पुत्री, पति की पत्नी तथा पुत्र की मां के रूप में सिमट कर रह गयी कुमारी अवस्था में पिता रक्षा करता था, युवावस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र, महिला कभी स्वतंत्र नहीं रही। अठारहवीं शताब्दी तक का युग मध्ययुग के रूप में जाना जाता है।

भा रतीय समाज में आरम्भ से ही महिलायें सम्मान की प्रतीक मानी जाती रही हैं द्रौपदी का अपमान तथा सीता का अपहरण क्रमशः महाभारत एवं रावण व उसके वंश के विनाश के कारण बने। भारतीय समाज में स्त्रियों को ज्ञान, शक्ति एवं संपत्ति का प्रतीक माना जाता है इन प्रतीकों के रूप में भारतीय समाज नारी रूप सरस्वती, दुर्गा एवं लक्ष्मी की पूजा करता है। नारी, परिवार की नींव है परिवार, समुदाय की तथा समुदाय, राष्ट्र की। कमजोर नींव से मजबूत राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती है भारत में यदि महिलाओं की सामाजिक स्थिति के संबंध में हम इतिहास पर नजर डालें तो पायेंगे कि वैदिक काल से ही महिलाओं को शिक्षा एवं साहित्य के अध्ययन करने की पुरुषों के समान स्वतंत्रता थी। नारी को माता का गौरव प्राप्त था। “यत्र नार्यास्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता अर्थात् जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं इस तरह का भाव महिलाओं के प्रति था इस काल में धर्म एवं अनुष्ठान के कार्य बिना पत्नी के पूरे नहीं किये जा सकते थे। स्त्री और पुरुष दोनों की सामाजिक स्थिति समान रूप से महत्वपूर्ण थी सामाजिक कुरीतियाँ नहीं थी। महिलाओं

को जो पुरुषों के समान सम्मान और महत्व प्राप्त था वह धीरे-धीरे कम होता चला गया महिलाओं में शिक्षा का स्तर गिरता चला गया।

भारत में तीसरी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक का युग हिन्दु धर्म शास्त्रों का युग कहलाता है भारत में इस युग में महिलायें सामाजिक एवं संकीर्ण विचारधारा की शिकार बनी। वैदिक काल की सरस्वती माता, लक्ष्मी माता एवं शक्ति प्रदायनी देवी की प्रतीक महिला अब याचिका, सेविका तथा अबला के रूप में दिखाई देने लगी। वैदिक काल की वह महिला जो अपने प्रबल व्यक्तित्व के कारण देश के साहित्य और समाज के आदर्शों को प्रभावित करती थी परतंत्र, पराधीन, निसहाय और निर्बल बन चुकी थी। महिला की पहचान एक पिता की पुत्री, पति की पत्नी तथा पुत्र की मां के रूप में सिमट कर रह गयी कुमारी अवस्था में पिता रक्षा करता था, युवावस्था में पति, वृद्धावस्था में पुत्र, महिला कभी स्वतंत्र नहीं रही। अठारहवीं शताब्दी तक का युग मध्ययुग के रूप में जाना जाता है। यह युग मुगलों के शासन का था महिलाओं की स्थिति पतन की ओर अग्रसर हुई यह समय सामाजिक स्थिति की दृष्टि से



महिलाओं के लिये दोगम दर्जे का युग माना जाता है इसी युग में पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सतीप्रथा जैसी कुरीतियाँ समाज में आयी देश की स्वतंत्रता से पूर्व महिलाओं के सामाजिक परिवेश की चर्चा करें तो यह समय भारत पर अंग्रेजों के शासन का था इस काल में भी महिलाओं के स्तर में कोई सुधार नहीं हुआ। महिलाओं के स्तर में गिरावट के लिये जिम्मेदार महत्वपूर्ण कारण शिक्षा का अभाव, आर्थिक दृष्टि से पुरुषों पर निर्भर होना, महिलाओं को संयुक्त परिवार में सम्पत्ति संबंधी अधिकार से वंचित रखना, बाल विवाह, विवाह संबंधी कुरीतियाँ आदि विद्यमान थे। इस युग में भारतीयों के द्वारा समय समय पर समाज सुधार के लिये विशेष प्रयास किये जिसमें सन 1828 में राजा राममोहन राय द्वारा भारत में ब्रह्म समाज की स्थापना कर सती प्रथा खत्म करने हेतु कानून द्वारा रोक लगवाना, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की स्थापना कर स्त्री शिक्षा का प्रचार कर पर्दा प्रथा तथा बाल विवाह रोकने हेतु प्रयास करना। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर द्वारा स्त्रियों की स्थितियों में सुधार लाने के लिये विधवा विवाह को प्रोत्साहित तथा बहुपत्नी विवाह को हतोत्साहित करने हेतु पहल करना उल्लेखनीय है। स्वतंत्रता से पूर्व राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने महिलाओं को राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने हेतु प्रेरित किया जिसके परिणाम स्वरूप लाखों महिलाओं ने घर की चार दीवारी से बाहर निकलकर स्वाधीनता आंदोलन में भाग लिया। महिलाओं को अपनी शक्ति और सामर्थ्य का एहसास हुआ इससे उनमें नई चेतना का विकास हुआ तथा यही चेतना बाद में स्त्रियों की प्रगति का आधार बनी सरोजनी नायडू और विजय लक्ष्मी पंडित जैसी सशक्त महिलायें उभरकर आयीं। भारतीय समाज में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात महिलाओं की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन आया। महिलाओं की समाज में स्थिति को मजबूत करने के लिये राजनीतिक, सामाजिक, स्वास्थ्य तथा आर्थिक क्षेत्र में कई सुधार कार्यक्रम चलाये गये। भारत द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात अंगीकृत संविधान में महिला व पुरुष को समान माना गया, न्याय,

समानता एवं स्वतंत्रता के अधिकार महिला-पुरुष को समान रूप से प्रदान किये गये। महिलाओं की जिन्दगी बेहतर बनाने और उन्हें सामाजिक, राजनीतिक, स्वास्थ्य और आर्थिक दृष्टि से सशक्त बनाने के लिये कई कानून बने। भारतीय दण्ड अधिनियम, दण्ड प्रक्रिया संहिता तथा साक्ष्य



महिलाओं की लज्जा/शालीनता का सम्मान बनाये रखने के लिये स्त्री अशिष्ट प्रतिषेध अधिनियम बनाये गये। सती निवारण अधिनियम, भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, दहेज प्रतिषेध अधिनियम, राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, बंधुआ मजदूरी, बाल मजदूरी, विधवा गुजारा, जायदाद में महिलाओं का अधिकारी, समान वेतन, प्रसूति सुविधायें, सम्पत्ति संबंधी अधिकारी, सुरक्षित गर्भपात और पत्नी के भरण पोषण अधिकार के संबंध में अधिनियम तैयार किये हैं। स्थानीय संस्थाओं में एक तिहाई पद महिलाओं को आरक्षित कर ऐतिहासिक कदम उठाये हैं।



अधिनियम में महिलाओं के प्रति घटित होने वाले अपराधों के लिये कठोर प्रावधान किये। परिवार में महिलाओं को पुरुष हिंसा से सुरक्षा देने के लिये घरेलू हिंसा अधिनियम वर्ष 2005 में लाया गया है। महिलाओं की लज्जा/शालीनता का सम्मान बनाये रखने के लिये स्त्री अशिष्ट प्रतिषेध अधिनियम बनाये गये। सती निवारण अधिनियम, भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम, दहेज प्रतिषेध अधिनियम, राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, बंधुआ मजदूरी, बाल मजदूरी, विधवा गुजारा, जायदाद में महिलाओं का अधिकारी, समान वेतन, प्रसूति सुविधायें, सम्पत्ति संबंधी अधिकारी, सुरक्षित गर्भपात और पत्नी के भरण पोषण अधिकार के संबंध में अधिनियम तैयार किये हैं। स्थानीय संस्थाओं में एक तिहाई पद महिलाओं को आरक्षित कर ऐतिहासिक कदम उठाये



हैं। सरकार के अधीन महिला एवं बाल विकास के रूप में एक स्वतंत्र विभाग की स्थापना की गई आर्थिक रूप से सक्षम बनाने के लिये नौकरियों एवं शिक्षा में आरक्षण देकर महिला सशक्तिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। स्वतंत्र भारत में पुनः पुरजोर रूप से देश और प्रदेश की सरकारों, राष्ट्र चिंतकों के साथ-साथ विश्व जगत द्वारा महसूस किया कि किसी भी स्वस्थ एवं विकसित समाज के निर्माण एवं विकास में स्त्री तथा पुरुष दोनों की परस्पर सहभागिता एवं साझेदारी अत्यंत आवश्यक है। इसके बावजूद परिवार का पालन पोषण करने वाली महिला जिसे माता का दर्जा हासिल है उसकी संख्या में पुरुषों की तुलना में लगातार गिरावट आना जिसके मुख्य कारण भ्रूण हत्या तथा बालिका शिशु हत्या जैसी राक्षसी प्रवृत्ति का अभी भी विद्यमान होना हमारे समाज के सभ्य होने पर प्रश्न चिन्ह लगाता है? यही स्थिति हमारी दूसरी मातायें जैसे धरती माता तथा गौमाता की बनती जा रही है गौमाता जो हमारा तथा जमीन का पालन पोषण करती है उसका भी अस्तित्व खतरे में है तथा धरती माता के प्राण बढ़ते प्रदूषण तथा मनुष्य के अप्राकृतिक कृत्यों के कारण संकट में हैं महिलाओं के अस्तित्व को खतरे में देख विश्व के

समस्त राष्ट्रों ने चिंता करनी शुरू की यूनाईटेड नेशन चार्टर में महिलाओं और पुरुषों को बराबर का स्थान दिया तथा प्रथम विश्व महिला सम्मेलन 1975 में मैक्सिको में आयोजित किया। प्रत्येक वर्ष 8 मार्च को “महिला दिवस” के रूप में मनाने की परम्परा शुरू की गयी। विश्व में 1990 से 2000 के दशक को महिला दशक के रूप में मनाया गया। भारत में महिला सशक्तिकरण हेतु कई संस्थायें स्थापित की गई जिसमें 1992 में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया जाना उल्लेखनीय है। वर्ष 2001 को भारत में महिला सशक्तिकरण के रूप में मनाया गया कई राज्यों में अपनी महिला नीति घोषित की है। मध्यप्रदेश सरकार ने बेटा बचाओं जैसे कार्यक्रम प्रारम्भ किये हैं। भारत में महिलाओं को और सशक्त बनाने के लिये लोकसभा की एक तिहाई सीट आरक्षित किये जाने का विधेयक विचाराधीन है।

स्वतंत्र भारत में देश की सर्वोच्च तीन संवैधानिक पद राष्ट्रपति, लोकसभा स्पीकर तथा विपक्ष के नेता के पद पर महिलाओं का काबिज होना उनके सशक्तिकरण के अग्रसर की कहानी स्वयं बताता है।

लेखक म.प्र. पुलिस में उप पुलिस अधीक्षक हैं।

□ □ □

“Never throughout history has a man who lived a life of ease left a name worth remembering.”

-Theodore Roosevelt

“History never repeats itself, historians do.”

-Lee Benson



आखिर भारतीय किसान आत्महत्या क्यों कर रहे हैं?

● कमलेश कुमार दीवान

आजादी के आंदोलन में किसानों की दुर्दशा ने महात्मा गांधी को मजबूर किया था कि वे बिहार के चंपारण में हो रहे अत्याचार को स्वयं जाकर महसूस करें। उन्होंने वह किया। इतिहास गवाह है जब नील की खेती करते-करते पीले पड़ गए किसानों की लड़ाई में आन्दोलनरत गांधी जी को अदालत लाया गया तब अंग्रेज जज अपनी कुर्सी से उठकर अपने आप खड़े हो गए थे। किन्तु आज मरते हुए किसानों की हालातों पर आंसू बहाना तो दूर हमारी आधुनिक अर्थव्यवस्थाएँ खेती-किसानी के कार्य को दुष्कर बना रही है। नया तकनीकी पैकेज और बैंक ऋण पर आधारित कृषि उत्पादन सिंचाई के साधनों में प्रयुक्त स्रोत और ऊर्जा की प्राप्ति की तकनीकों से निजाद न पा सकने वाले किसान शायद जलालत से थक हारकर आत्महत्या कर रहे हैं? आखिर ऐसा क्यों नहीं हो पाया कि इसकी जाँच राष्ट्रीय स्तर पर हो सकती है?

स्मरण रहे कि विगत वर्षों में दक्षिणी-पश्चिम भारत के कई राज्यों में किसानों ने आत्महत्याएँ की है। पिछले वर्ष आंध्र कपास की फसल तबाह हो जाने पर यह मामला प्रकाश में आया था किन्तु अक्टूबर माह में गुजरात से मूंगफली की पैदावार बिगड़ जाने से किसानों ने अपनी जान दी है। आज देश के कई राज्यों में सूखे की स्थितियाँ हैं इसलिए मामला गंभीर है। एक अर्थ में उन प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाना जरूरी है जिनके परिणाम इतने भयावह रूप से सामने आते हैं।

मानना है कि इस आधुनिक तथाकथित प्रगतिशील अर्थव्यवस्था में किसान अधिक कर्जदार हुआ है। देश की आजादी ने शोषण के विरुद्ध लड़ने और स्वाभिमान से जीने की ताकत दी थी किन्तु आज वह पूर्ण रूपेण बैंकों, साहूकारों और सहकारी समितियों के वित्तीय नियंत्रण में है। उसकी खेती-किसानी कृषि तकनीकी बाजार, बिजली-पानी और डीजल-पेट्रोल पर आश्रित हो गई है। यदि आप विचार-विमर्श करें तब ज्ञात होगा कि बढ़ती उत्पादन लागतों और सभी तरह की परिस्थितियों में कृषकों ने अमन-चैन

को तबाह किया है। हालात यह है कि पुराने तरीके अपनाने वाले लोग अनाज का उत्पादन नहीं कर पा रहे हैं और नई खेती के तौर-तरीकों से अधिक उत्पादन प्राप्त कर रहे किसान कुछ बचा नहीं पा रहे हैं।

आर्थिक सुधारों के दूसरे चरण में “नई राष्ट्रीय कृषि नीति 2000” प्रस्तुत की गई है जिसे सहस्राब्दी का अनुपम उपहार बताया जा रहा है। इसका प्रमुख लक्ष्य कृषि क्षेत्र में न्यूनतम 4 प्रतिशत से अधिक वार्षिक वृद्धि दर बनाए रखना है। हमारी मिट्टी, जल, जैव-विविधताओं को संरक्षित करने वाले संसाधनों के कुशल उपयोग पर आधारित समता के साथ विकास, माँग परिचालित उत्पादन, कृषि अतिरेक से प्राप्त लाभ को अधिकतम करें ताकि आर्थिक उदारीकरण के कारण उत्पन्न हो रही चुनौतियों का सामना किया जा सके। कहने को इस नीति के लक्ष्यों का निर्धारण आर्थिक सुधारों, गैर समझौतों, विश्व व्यापार संगठन की नीतियों और नौवीं पंचवर्षीय योजना तथा कृषि की वर्तमान एवं भविष्य की स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है किन्तु ऐसा कतई आभास नहीं होता है कि व्यवहारिक रूप



से खेती-किसानी को बेहतर बनाने एवं कृषकों की आय के स्तर को बढ़ाने हेतु कोई असरकारक पहल की गई है।

आज कृषि क्षेत्र की जटिलाओं को समझने की आवश्यकता है जिसकी शुरुआत मानसून और वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रदाय ऋणों से होती है। समस्या यह है कि रूठे हुए मानसून और लबालब पानी से भरे हुए बांधों से जल प्रवाह जब अनिश्चित हो, डीजल पेट्रोल की कीमतें

आज कृषि क्षेत्र की जटिलाओं को समझने की आवश्यकता है जिसकी शुरुआत मानसून और वित्तीय संस्थाओं द्वारा प्रदाय ऋणों से होती है। समस्या यह है कि रूठे हुए मानसून और लबालब पानी से भरे हुए बांधों से जल प्रवाह जब अनिश्चित हो, डीजल पेट्रोल की कीमतें ऊँची जा रही हों और हर तार पर डोरे डाल दिए जाने के बाद भी बिजली नहीं मिलती हो तब उसे कृषि विकास के अनुरूप कैसे किया जाए यह दस्तावेज में होना चाहिए था। वह तो सिरे से गायब है फिर इस ग्लोबलाइजेशन “ग्लो मोबालाइजेशन” का क्या किया जाए समझ नहीं आता है। वित्तीय संस्थाओं की ऋण योजनाएँ चक्रवृद्धि ब्याज पर आधारित है जो साहूकारी व्यवस्था से बुरी और शोषण को बढ़ावा देने वाली है।

ऊँची जा रही हों और हर तार पर डोरे डाल दिए जाने के बाद भी बिजली नहीं मिलती हो तब उसे कृषि विकास के अनुरूप कैसे किया जाए यह दस्तावेज में होना चाहिए था। वह तो सिरे से गायब है फिर इस ग्लोबलाइजेशन “ग्लो-मोबालाइजेशन” का क्या किया जाए समझ नहीं आता है। वित्तीय संस्थाओं की ऋण योजनाएँ चक्रवृद्धि ब्याज पर आधारित है जो साहूकारी व्यवस्था से बुरी और शोषण को बढ़ावा देने वाली है।

आज देश में कृषि क्षेत्र का 35 प्रतिशत भाग सिंचाई व्यवस्थाओं के अंतर्गत है जबकि 65 प्रतिशत कृषि भूमि मानसूनी वर्षा पर निर्भर है। देश की एक तिहाई आबादी कृषि पर आश्रित है पर बजट में जो प्रावधान किए गए हैं वे 12 प्रतिशत ही हैं और इसी तरह की नीतियों के परिणाम स्वरूप 99-2000 में कृषि क्षेत्र की विकास दर घटकर 1.3 प्रतिशत ही रह गई है जबकि कृषि क्षेत्र की वृद्धि दर का लक्ष्य 4 प्रतिशत के लगभग रखा गया है। सवाल यह है कि जब हमारी 75 प्रतिशत से अधिक आबादी के काम-काजी क्षेत्र की वृद्धि दर 1 प्रतिशत हो और सन् 2000-2001 के लिए अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर के लक्ष्य 7 प्रतिशत हो तब संदेह होता है कि बजट में कृषि के लिए कोई प्रावधान किए भी जा रहे हैं? या बिल्कुल ही बाजारों के भरोसे छोड़ दिया गया है। ज्ञातव्य यह भी होवे कि वर्ष 99-2000 में कृषि क्षेत्र के विकास की दर घटकर 1.3 प्रतिशत रह गई है जबकि सरकारी कृषि नीति में प्रतिवर्ष 4 प्रतिशत की वृद्धि दर का लक्ष्य रखा गया था।

सवाल यह है कि एक कृषि प्रधान देश के लिए सरकारी नीतियों की ओर से सर्वाधिक बुरे संकेत क्या मिल रहे हैं तब कहना होगा कि आबादी के 75 प्रतिशत भाग को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तौर पर पोषित करने वाले क्षेत्र के लिए न्यूनतम वजटीय प्रावधान किए जा रहे हैं और यह भी कि अंतर्राष्ट्रीय नीतियों के समक्ष सपर्मण करते हुए संविदा या पट्टे की खेती के कानूनन प्रावधान किए जा रहे हैं जो बीमा कंपनियों के लिए हितकारी हो सकते हैं किन्तु खेती करने वालों के लिए अच्छे हों इसका इतिहास तो नहीं है।

यदि हम अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों से कृषि की तुलना करते हैं तब ज्ञात होता है कि औद्योगिक उत्पादन 99-2000 और 2000-01 अप्रैल-सितंबर माह के सूचकांक अनुसार सामान्य 6.4% से घटकर 5.5% विनिर्माणी क्षेत्र 6.8% से घटकर 5.6% विद्युत क्षेत्र 7.7% से घटकर 3.4% रह गया है जबकि स्पष्ट होता है कि खनन क्षेत्र को छोड़कर औद्योगिक उत्पादन ने शेष क्षेत्रों का सूचकांक



अंतर नीचे की ओर जा रहा है जिसका प्रभाव अर्थव्यवस्था की सेहत पर निश्चित ही पड़ेगा जो दबाव होगा वह कृषि क्षेत्र पर होगा।

हमारे विदेशी व्यापार आयात और निर्यात में वृद्धि हो रही है 99-2000 में आयात 5.6% था किन्तु 2000-2001 में बढ़कर 15.6% हो गया। अर्थात् आयात 10 प्रतिशत बढ़ा है। निर्यात 99-2000 में 7.4% था जबकि 2000-2001 में बढ़कर 22% हो गया है अर्थात् वृद्धि 14.6% पिछले अप्रैल सितंबरी तुलना में हुई किन्तु यह प्रवृत्ति आयात में भी है जिससे आयात निर्यात का अंतर केवल 4.6% ही है और विदेशी मुद्रा में भंडार 10/99 में 132.77 हजार करोड़ रुपये और 10/2000 में 150.19 हजार करोड़ रुपये अर्थात् 27.42 हजार करोड़ रुपया अधिक दर्शाता है जबकि निर्यात वृद्धि 14.6% बतायी जा रही है इसी हिसाब से मुद्रा भंडार और अधिक बढ़ना चाहिए था किन्तु लगता है कि देश से निर्यात होने वाले सामानों में पुर्नः निर्यात का भाग बढ़ रहा है। एक अर्थ में जो दृश्य आंकड़ों से दिखाई देता है उसकी पुष्टि नहीं हो पाती है इसलिए संदेह तो उपजने की चाहिए क्योंकि हम सर्वाधिक महत्व औद्योगिक उत्पादन को ही दे रहे हैं।

हमारी कृषि की विकास दर का लक्ष्य 12 प्रतिशत बजट प्रावधानों के साथ 4% रखा गया यह दर 1.3 प्रतिशत रह गई जो 2.7% कम है जबकि आबादी का 75 भाग कृषि पर आश्रित है। जनसंख्या वृद्धि दर 1.9 प्रतिशत है यदि हम कृषि विकास पर 1.3% और जनसंख्या वृद्धि पर प्रतिशत की तुलना करें 0.6% पीछे है जो अच्छा संकेत तो नहीं मानी जा सकती है। इस तरह अर्थव्यवस्था में सर्वाधिक बड़े क्षेत्र की सेहत अच्छी नहीं है जिसका कारण मूलभूत बुनियादी ढांचे में प्रगति नहीं होना है जिसमें ग्रामीण सड़कें हैं। फसलों के परिक्षण ग्रह के आभाव है। बिजली और सिंचाई की सुविधाओं पर ध्यान नहीं दिया जाना आदि-आदि है जिससे उत्पादन तो हो रहा है किन्तु लागत बढ़कर लाभांश भाग को न्यूनतम कर देती है और ऋण

लेकर इहलीला समाप्त कर लेते हैं। नवम्बर माह आंध्रा के बारंगल जिले में 28000 एकड़ कपास की फसल तबाह हो गयी। फलस्वरूप 200 से अधिक कृषकों ने आत्महत्याएँ की और गुजरात में मूंगफली की फसलों पर वाइरस आक्रमण से हजारों हेक्टर फसल क्षेत्र बर्बाद हुआ। भविष्य में हजारों हेक्टर क्षेत्र में एक समान फसलों के पचलन के क्षेत्र बीमारियों से प्रभावित होंगे जैसे आलू, गन्ना, गेहूँ, अंगूर, संतरा, सेब आदि तब फसल बचाने के लिए किसान तो तबाह होंगे ही। जहाँ तक जीवन त्याग देने का सवाल है तब कहना होगा कि जब हम बाजार के लिए उत्पादन करते हैं बाजार की वस्तुओं से उत्पादन बचाए रखते हैं तब ऐसी दुर्घटनाएँ कर्ज के कारण उत्पन्न होने वाली अपमानजनक स्थितियों का परिणाम होती है। भारत के इतिहास में कृषकों की जीवटता का टूटना मनोवैज्ञानिक रूप से बढ़ा खतरा है क्योंकि सहनशीलता ही इनकी पूंजी है जिसकी साख के सहारे सदियों से खेती-किसानी हो रही थी आज मिथक टूट रहे हैं।

कृषि तकनीकी पैकेजों का सबसे बड़ा दोष यही है कि इनसे देश के किसानों को एकल फसल प्रणाली प्राप्त हो रही है। संयुक्त राज्य अमेरिका की कॉटन वेल्ड या अर्जेंटाइना, ऑस्ट्रेलिया के गेहूँ, क्षेत्र या सोवियत रूस के मैदान या विश्व के स्टेपीज-पेयरीज प्रदेश भले ही दुनिया की 'रोटी-डलियां' हो पर विश्व भर की नदी घाटियों सिंधु-गंगा, ब्रम्हपुत्र, मीनांग-भीकांग, व्हागहो-यांगत्सीक्यांग दजला-कुरात आदि के किनारे विकसित पली-बढ़ी सभ्यताओं के क्षेत्र में ऐतिहासिकरूप में मिश्रित फसल प्रणाली थी जिससे एक समय में अमेरिकन कॉटनवेल्ड, आंध्र का कपास क्षेत्र या गुजरात का मूंगफली उत्पादनकर्ता भूभाग या म.प्र. का सोया क्षेत्र नष्ट नहीं हो सकता था। इस तथा कथित वैज्ञानिक खेती के परिणाम स्वरूप कृषि के ऐसे लाखों हेक्टर क्षेत्र 'एकल' हो चुके हैं जो एक ही वायरस या बीमारी से लाखों परिवारों को तबाह कर देते हैं।

भारतीय योजना आयोग ने नौवीं पंचवर्षीय योजना



देश में जनसंख्या वृद्धि दर 1.9% है। जबकि बेरोजगारी की दर 2.5% है। कृषि विकास न्यूनतम स्तर पर और तमाम सरकारी निजी और जनता के जमा धन के बड़े भाग को निवेश द्वारा प्राप्त कर रही अर्थव्यवस्था में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर तक क्यों आशाजनक नहीं है? सन् 2000-2001 के लिए नेशनल काउंसिल ऑफ इकॉनॉमिक रिसर्च ने 6.1% भारतीय रिजर्व बैंक 6 से 6.5% सेंटरफॉर मानीटरिंग ऑफ इंडिया इकानामी 5.8% बताई है। अर्थात् निर्धारित लक्ष्य से बगैर कुछ किये धरे थोड़ी सी कम या लगभग बता देने से अर्थव्यवस्था के संचालन दोष, और औद्योगिक मंदी की आहटों को छुपाया नहीं जा सकता है। विश्व व्यापी बाजार के साथ ऋण-ब्याज, उधारी चुकाने के दुष्चक्र में किसान ही नहीं पूरा देश आ चुका है।



97-2002 में कृषि की वार्षिक औसत वृद्धि दर का लक्ष्य 5 प्रतिशत रखा है जबकि वास्तविक रूप से यह दर 1.3 से 1.5 प्रतिशत है। राष्ट्रीय कृषि नीति की अनेक धाराओं में नए तौर तरीकों की जो जुमलेवाजियाँ इस ग्लोबलाइजेशन के लिए कई गई हैं उससे तो अंग्रेजी राज की बंदोवस्त प्रथाएँ तक लजा रही है। एक कच्चे मानवीय संसाधनों वाले देश में दृश्य और अदृश्य विश्वस्तरीय मौद्रिक संस्थानों एवं देशी औद्योगिक वित्तीय संगठनों के इशारे पर अर्थव्यवस्था का संचालन करना मानसून की अनिश्चितता से कहीं अधिक खतरनाक है। दावे के साथ कहा जा सकता है कि अर्थव्यवस्थाओं का विकास और संचालन आय बढ़ाने या बुनियादी ढांचों के विकास के लिए कम बल्कि एक कल्याणकारी राज्य में आबादी का बहुआयामी शोषण करने के लिए अधिक किया जा रहा है।

प्रश्न उठता है कि देश में जनसंख्या वृद्धि दर 1.9% है। जबकि बेरोजगारी की दर 2.5% है। कृषि विकास न्यूनतम स्तर पर और तमाम सरकारी निजी और जनता के जमा धन के बड़े भाग को निवेश द्वारा प्राप्त कर रही अर्थव्यवस्था में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि दर तक क्यों आशाजनक नहीं है? सन् 2000-2001 के लिए नेशनल काउंसिल ऑफ इकॉनॉमिक रिसर्च ने 6.1% भारतीय रिजर्व बैंक 6 से 6.5% सेंटरफॉर मानीटरिंग ऑफ इंडिया इकानामी 5.8% बताई है। अर्थात् निर्धारित लक्ष्य से बगैर कुछ किये धरे थोड़ी सी कम या लगभग बता देने से अर्थव्यवस्था के संचालन दोष, और औद्योगिक मंदी की आहटों को छुपाया नहीं जा सकता है। विश्व व्यापी बाजार के साथ ऋण-ब्याज, उधारी चुकाने के दुष्चक्र में किसान ही नहीं पूरा देश आ चुका है। सादगी पूर्ण जीवन जीने के बचे-खुचे मूल्य समाज में नहीं होते तब आज हम सब आत्महत्याएँ ही कर रहे होते। कह सकता हूँ कि आने वाला समय खेती-किसानी में भारी उथल-पुथल भरा होगा। किसानों को चारागाह और पशुपालन की तरफ ले जाने वाली नीतियाँ भारत जैसे देशों के लिए अनुकूल है। यदि विकास दर बढ़ाना है तब गुजरात के आनंद जैसे दुग्ध संस्थानों की तरह नियोजन करना होगा अन्यथा किसान एक फसल से तबाह होते रहेंगे। निष्कर्ष यही है कि इस तरह के भूमंडली से हमारी अर्थव्यवस्थाएँ प्रगति नहीं कर पा रही है। सरकारी नियोजन बेकार साबित किया जा चुका है। उसके स्वरूप जरूर पूँजीवादी लगते हैं किन्तु संस्थानों को उत्पादन लायक बनाने में शेर बाजार के माध्यमों से धन उगाही की जाती है। तथ्य यही है कि यह गैर जिम्मेवार नए किस्म की सहकारी व्यवस्था है। आधुनिक बाजार जिसके वे असली चेहरों को देखने नहीं देता है। शेर धारकों या निवेशकर्ताओं को धन की चपत लगती रहती है और वस्तुओं की कीमते भी ऊपर चढ़ती जाती है अभी ऐसा भी होगा कई चीजों के पैकेज मिलने लगेंगे तब आपकी जरूरत के मुताबिक एक वस्तु खरीद ही नहीं पाएँगे। अर्थात् बाजार आपको गैर जरूरी वस्तुएँ खरीदने के लिए विवश करेगा।



देश में जिस तरह के अर्थतंत्र का विकास हो रहा है उसका पोषण सरकारें कर रही हैं। उस पर नियंत्रण औद्योगिक संगठनों का है और उसके लाभांशों का “गोल मोबालाईजेशन” हो रहा है। वास्तविक विकास की गणनाएँ आय स्तर में बढ़ोत्तरी से होती हैं। परिवारों की आमदनी नहीं बढ़ी है खर्च बढ़ रहे हैं जो कर्ज लेकर फिलहाल आसानी से पूरे हो रहे हैं किन्तु उन्हें चुका न पाना भी एक बड़ी समस्या बन रही है। इसलिए कोई सामान बेच रहा है कोई जायदाद और जमीन रहन रख रहा है, बैंक भी जबरियाँ कर्ज वसूली कर रहे हैं और भविष्य में संविधान प्रदत्त नागरिक अधिकारों को कर्जदारों के संदर्भ में स्थगित किया जा सकता है अर्थात् ये कर्ज हमारा बहुत कुछ ले जा रहे हैं अर्थात् जिनके पास कुछ है वे अपना सम्मान देकर और जिनके पास कुछ नहीं है वे इस वैश्वीकरण की कीमत अपनी जान देकर चुका रहे हैं। स्वतंत्रता के अर्थ आत्मनिर्भरता भी है। सम्मान और गौरव के बाजार में चले जाने से जीने की कठिनाई बढ़ रही है। दूसरों पर निर्भरता बढ़ते जाना खतरनाक है। जब हम अपनी आमदनी से अधिक व्यय करने की आदत बनाते हैं तब गरीबी बढ़ती है। असमानताएँ बढ़ी होकर फैलती हैं। मुझे लगता है कि किसानों की आत्महत्याओं के पीछे आधुनिक बाजार ही है जिसके छप्पर फाड़ आकर्षणों में हमारा सब कुछ लुटते जा रहा है। सुझाव यही है कि यदि कृषि क्षेत्र को मजबूत करना है तब निम्न उपाय करने होंगे:-

1. ब्याज दरें कम करनी होंगी और उसकी गणना का तरीका साधारण ब्याज की तरह अपनाया जाएगा।
2. ग्रामीण क्षेत्रों को बुनियादी सुविधाएँ सड़कें भंडार गृह, क्रय-विक्रय केन्द्र, दुग्ध-फल, सब्जी और अनाज परिक्षण गृह आदि की सुविधाएँ दी जावे।
3. कृषि और औद्योगिक उत्पादन की चैनल अवधारणा जिसमें औद्योगिक कामकाजों का विस्तार दूरस्थ क्षेत्रों तक हो सके।
4. उत्पादन आधारिक ऋण प्रणाली का मूल्यांकन उत्पादित वस्तुओं से करते हुए उसको क्रय करने

कीप्रक्रिया अपनाना। अर्थात् मुद्रा के चक्रीय प्रवाह को धीमा करने हेतुएँ कई क्षेत्रों में वस्तु विनियम को प्रोत्साहन देना चाहिए।

5. ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादन के समय विद्युत प्रवाह को सुनिश्चित करना एवं पेट्रोलियम पदार्थों के वितरण के नेटवर्क को देहातों तक फैलाना चाहिए।
6. खेती-किसानी के काम-काज में घिरनी तंत्र (मैकेनिकल ताकत) का दोहन पानी निकालने, खेती करने, खेत जोतने और फसलों को प्राप्त करने के लिए होना चाहिए।
7. कच्चे माल को स्थानीय स्तर पर प्रोसेस करने के संबंध संयंत्र लगाए जाए जो दूरस्थ बड़े औद्योगिक कल कारखानों को पूर्ति करें।
8. साफ-सफाई, मृत जीव-जन्तुओं को ठिकाने लगाने एवं मल निपटान या जल स्वच्छ बनाए रखने हेतु आधुनिक तकनीकों का विस्तार ग्रामीण क्षेत्र तक किया जाए।
9. सिंचाई परियोजनाओं के क्षेत्र का एक एजेन्सी के माध्यम से नियंत्रण और विकास होना चाहिए। अर्थात् मिश्रित अपने तरह की अर्थव्यवस्था, चैनल अवधारणा वाला विकेन्द्रीकृत औद्योगिकीकरण, लोकतांत्रिक प्रशासन और कल्याणकारी राज्य को बनाएँ रखकर ही हम प्रगति कर सकते हैं सिर्फ राजनैतिक सत्ताओं के विकेन्द्रीकरण से कुछ हासिल नहीं होगा हमें प्रशासनिक औद्योगिक और काम-काज के अवसरों को भी दूरस्थ अंचलों तक फैलाना होगा तभी विकास दर को दहाई के पार ले जा सकते हैं। अन्यथा हत्याओं और आत्महत्याओं के सिलसिले चल निकले हैं। चलते रहने वाले हैं। आशा है उपरोक्त सुझावों के अनुरूप अर्थव्यवस्थाओं का संचालन संभव बनने हेतु ठोस उपाय किए जावेंगे।

□ □ □

15, मित्र विहार कॉलोनी
सिविल-लाईन्स, होशंगाबाद (म.प्र.)



भ्रष्टाचार एवं आतंकवाद - मानव अधिकार के घोर शत्रु

● देवदत्त माधव धर्माधिकारी

आज गांधी जयंती के अवसर पर वर्तमान भारत में मानव अधिकारों का कितना संरक्षण हो सका है इसका आंकलन किया जाना सार्थक प्रतीत होता है। महात्मा गांधी ने अपने विभिन्न कार्यक्रमों तथा स्वयं के आचार-विचार से स्वतंत्र भारत की कल्पना की थी। भारत के बाहर अब उनके विचारों तथा कार्यक्रमों का महत्व लोगों के समझ में आ रहा है और भारत से अधिक अन्य देशों में उनके दर्शन के आधार पर अहिंसक आंदोलन हो रहे हैं।

भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, न केवल देश का प्रबुद्ध वर्ग परन्तु सामान्य व्यक्ति भी जिनमें व्यावसायी, कृषक, मजदूर एवं बड़ी संख्या में विद्यार्थी थे - शामिल हो गये थे। दमोह के तत्कालीन सभ्रांत परिवारों के सदस्यों के साथ स्वर्गीय श्री ज्ञानचंद्र श्रीवास्तव भी युवावस्था में ही स्वतंत्रता सेनानी द्वारा चलाये जा रहे आंदोलन में सक्रिय हो गये थे जो उनकी जीवनी पढ़ने से विदित होता है। इस तरह गांधी जी ने अपने जीवन काल में देश भक्ति से ओत-प्रोत तथा अहिंसक आंदोलन में आस्था रखने वाले व्यक्तियों का एक वृहद परिवार बना लिया था जो अब समाप्त प्रायः है। स्व. श्री ज्ञानचंद्र श्रीवास्तव के प्रति अपनी आदरांजलि प्रस्तुत करता हूं एवं उनकी स्मृति में गठित इस न्यास के सभी पदाधिकारियों एवं उनके परिवार के सदस्यों को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने इस न्यास के माध्यम से स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों द्वारा कल्पित भारत के निर्माण की दिशा में विविध कार्यक्रम संचालित करने का संकल्प लिया है। आज भारत, दो घोर

शत्रु 'भ्रष्टाचार एवं आतंकवाद' से जूझ रहा है और उन्हें परास्त करने के लिए प्रयत्नरत है।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में एवं उसके पूर्व भी भारत के स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी नेताओं की प्रेरणा से उस घोर विपरीत परिस्थिति में भी भारत की सृज्जन शक्ति जागृत हुई थी। आज भी वह सृज्जन शक्ति विद्यमान है परन्तु जागृत नहीं है एवं निष्क्रिय पड़ी हुई है। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीयों में देशप्रेम और त्याग की भावना प्रबल थी। वर्तमान स्वतंत्र भारत में यह भावना क्षीण होकर स्वार्थ की भावना हावी हो गई है परिणाम स्वरूप अब सब स्वतंत्रता का उपभोग अपनी स्वार्थ सिद्धि में कर रहे हैं।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में एवं उसके पूर्व भी भारत के स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी नेताओं की प्रेरणा से उस घोर विपरीत परिस्थिति में भी भारत की सृज्जन शक्ति जागृत हुई थी। आज भी वह सृज्जन शक्ति विद्यमान है परन्तु जागृत नहीं है एवं निष्क्रिय पड़ी हुई है। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारतीयों में देशप्रेम और त्याग की भावना प्रबल थी। वर्तमान स्वतंत्र भारत में यह भावना क्षीण होकर स्वार्थ की भावना हावी हो गई है परिणाम स्वरूप अब सब स्वतंत्रता का उपभोग अपनी स्वार्थ सिद्धि में कर रहे हैं।

स्वतंत्रता संग्राम आंदोलन से प्राप्त अनुभव के आधार पर एक बहुत आदर्श संविधान भारत में निर्मित हुआ। संविधान में नागरिकों के मूलभूत अधिकार व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए प्रदत्त किये गये, परन्तु मूलभूत कर्तव्यों का उसमें उल्लेख नहीं था जिन्हें 25 वर्ष बाद संविधान में जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मूल संविधान निर्माताओं ने यह निहित माना कि शासन में आरूढ़ पदाधिकारी संवैधानिक अधिकार व्यक्तिगत स्तर पर ईमानदारी एवं नेक-नीयत से उपयोग में लायेंगे। इस कारण संविधान में चुनाव आयोग, लोक सेवा आयोग, कम्पट्रोलर एण्ड आडीटर जनरल ऑफ इंडिया, न्यायपालिका के समकक्ष भ्रष्टाचार निवारण आयोग सरीखी संस्था निर्माण करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई थी। संविधान निर्माताओं को शायद यह



दूरदृष्टि नहीं थी कि संवैधानिक एवं वैधानिक पदों पर आसीन पदाधिकारी तथा जनता इनती भ्रष्ट होकर यह परिस्थितियां भी हो सकती हैं कि प्रश्न खड़ा हो 'पहरेदार पर कौन पहरेदारी करे'? संविधानकर्ता यह भूल गये कि चरित्र निर्माण के बगैर राष्ट्र निर्माण संभव नहीं है। इस विषय में हमाने ऋषि-मुनियों, अध्यात्मिक गुरुओं तथा समाज सुधारकों के दर्शन तथा उद्देश्यों का कोई भी लाभ नहीं लिया गया। भारत में चरित्र निर्माण का बीड़ा स्वामी विवेकानन्द के अध्यात्मिक उत्थान रामकृष्ण मिशन तथा कालांतर में महर्षि अरविन्दो ने उठाया था। वर्तमान भारत में उसे आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी। भ्रष्टाचार से ग्रस्त भारत को मानव मूल्य आधारित शिक्षण एवं चरित्र गठन की आवश्यकता है। मात्र कानून और अधिक सख्त कानून बनाकर भ्रष्टाचारियों को दंडित करने मात्र से भ्रष्टाचार की प्रचलित संस्कृति पर अंकुश लग पाना संभव नहीं है।

भ्रष्टाचार से मानव अधिकारों का घोर हनन होता है इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सरकार द्वारा समाज हित में प्रचलित सभी शासकीय कार्यक्रमों जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, अन्य वितरण, आश्रय, पेयजल, विद्युत प्रदाय, आवागमन की सुविधायें, इन सभी क्षेत्रों में जड़ से भ्रष्टाचार फैल चुका है और अब तो जनता भी इसको मजबूरन स्वीकार कर सहन करने के लिए अपना मानस बना चुकी है। जिस देश में इस तरह का मानस बन गया हो कि भ्रष्टाचार से लड़ना नहीं, उसको झेलते हुए आगे बढ़ना है, वहां भ्रष्टाचार समाप्त होने की दिशा में पहला कदम भी पड़ना असंभव है।

आज तो सरकारी दफ्तरों में यदि किसी अधिकारी के कुछ आदेश प्राप्त करना है तो सम्पर्क करते ही यह मन बना लिया जाता है कि कमीशन के बतौर या सौजन्य राशि के रूप में कुछ रिश्वत देना और अधिकारी द्वारा उसे स्वीकार करना स्वाभाविक ही है। परिवारों में अब बच्चों को यह शिक्षा दी जाती है कि वे व्यवहार कुशल बनें और ऐन-केन-प्रकारेण अपना हित साध्य करे। भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार की इस संस्कृति पर एक शायर की ये पंक्तियां देखें -

*हर समय ईमानदारी की ही बात,
एक दिन यह आदमी पछतायेगा।
फाइलें यदि मेज पर ठहरी नहीं,
दफ्तरों के हाथ क्या लग जायेगा।*

‘ईमानदारी ही सर्वोत्तम नीति है’, यह सूक्ति प्रयोग में लाने योग्य नहीं रही। वर्तमान भारत में कानून सम्मत और सीधा-सरल व्यवहार अपेक्षित ही नहीं रहा। एक दूसरे शायर की ये पंक्तियां देखें -

*सिर्फ दो-चार सुख उठाने को,
आदमी बारहा फिसलता है।
उसका कुछ तो इलाज करवाओ,
उसके व्यवहार में सरलता है।*

अभी भी विश्व में ऐसे अनेक देश हैं जहां शासकीय अथवा गैर-शासकीय संस्थाओं में हितग्राही से किसी पारिश्रमिक, पारितोषक या पुरस्कार की अपेक्षा ही नहीं की जाती। रिश्वत शब्द भी व्यवहार में उन्हें ज्ञात नहीं है। इन देशों की संस्कृति तथा जन मानस का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उस देश के लोगों में देश प्रेम के साथ अपने देश का उत्तरोत्तर विकास करने की भावना प्रबल है।

इतने संघर्ष के बाद आजादी हासिल होने के पश्चात् भी आजाद भारत में देश प्रेम की भावना तथा अपने देश को विकास पर लाने की भावना की कमी है। देश प्रेम का अर्थ भारत की भूमि, पर्वत, नदियों, वृक्षों, जीव-जंतु आदि के प्रेम से तात्पर्य नहीं है। देश प्रेम का मुख्य अर्थ है देशवासियों से प्रेम। परिवार के सदस्यों में रिश्वत जैसी कोई बात नहीं हो सकती क्योंकि आपस में प्रेम है और एक दूसरे के लिए आवश्यक हुआ तो त्याग करने की तत्परता है। जब ऐसे प्रेम और त्याग की भावना परस्पर देशवासियों में होगी तो रिश्वत नाम की वस्तु ही समाप्त हो जायेगी। इसीलिए हमारे साधु संतों ने मानव सेवा पर अत्यधिक बल दिया है। एक दूसरे की चिंता करना और एक-दूसरे के साथ बांटकर उपभोग करना यह प्रवृत्ति जागृत करनी पड़ेगी। कानून तो केवल मदद करने और दण्डित करने के लिए है। समाज में नैतिक मूल्य स्थापित किये बगैर, मात्र लोकपाल



आदि सरीखे कड़े कानूनों से भ्रष्टाचार पर पूर्ण अंकुश लगाना संभव नहीं है। भारत में वर्तमान परिस्थिति तो यह है कि सामान्य व्यक्ति बगैर कानून तोड़े और बगैर भ्रष्टाचार किये जीवन यापन ही नहीं कर सकता। इन परिस्थितियों को बदलने की आवश्यकता है और इसमें समाज परिवर्तन की दिशा में कार्य होना चाहिए। भारत में शासकीय और गैर-शासकीय संस्थाओं में मानवोचित कार्य-दशायें सुस्थापित नहीं की गई है। पुलिस और शिक्षा विभागों या अन्य कई विभागों में वेतन इतना कम है कि रिश्वत के बगैर व्यक्ति का भविष्य संवारा नहीं जा सकता। भारत में प्रचलित विवाह पद्धति भ्रष्टाचार का प्रमुख कारण है। भारत में कन्या एक बोझ है और उसके विवाह के लिए बड़ी धन-राशि दहेज तथा विवाह खर्च के लिए जुटाना तथा अवसर प्राप्त होने पर रिश्वत लेकर धन-राशि की व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है। कानून में आज आमूल-चूल परिवर्तन हुए हैं। जन्म से लेकर विवाह तथा मृत्यु तक कन्या को संरक्षण दिये जाने की योजनायें हैं। कन्या का शिक्षण पर भी विभिन्न कार्यक्रम किये जा रहे हैं। कन्या को सम्पत्ति में पुरुष के बराबर हक भी दिया जा रहा है। परन्तु समाज में स्त्री-पुरुष के मनोदशा में अनुकूल परिवर्तन ने होने से ये कानून किताब में ही रह जाते हैं। जब तक विवाह पद्धति अत्यन्त सादगीपूर्ण एवं कम खर्चीली नहीं की जाती तब तक कन्या एक दायित्व या बोझ ही मानी जाती रहेगी। विवाह पद्धति के इस बदलाव की दिशा में शिक्षित एवं धनी परिवारों को नेतृत्व करना पड़ेगा ताकि सामान्य परिवार भी अपनी हैसियत से अधिक खर्च करने की प्रतिस्पर्धा से बचें।

भारत भी अन्य देशों की तरह ही आतंकवाद के भीषण आघात से भयभीत है। भारत में बढ़ते आतंकवाद के मूल कारण ज्ञात हैं। सर्व प्रथम तो भारत का विभाजन-पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में। दूसरा कारण कश्मीर की कभी न सुलझने वाली समस्या। तीसरा कारण नक्सलवाद। अभी भारत मात्र पुलिस और सेना तथा कठोर से कठोरतम कानून के माध्यम से आतंकवाद से लड़ने के लिए लगातार प्रयत्नरत है परन्तु सफलता प्राप्त नहीं हो रही है। कश्मीर में या उत्तर पूर्व राज्यों में पुलिस और सेना को अत्यधिक

अधिकार दे देने के दुष्परिणाम भी हुए हैं जिसमें आतंकवादियों पर अंकुश लगाने के बजाय सामान्य जनता के विविध मानव अधिकारों का हनत हो रहा है।

महात्मा गांधी ने तो पहले ही जान लिया था कि भारत की स्वतंत्रता के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता अत्यावश्यक है। उस दिशा में भारत में कुछ कार्य जरूर हुए परन्तु एक-दूसरे के प्रति स्नेह और विश्वास की अभी भी कमी है। मात्र धार्मिक सहिष्णुता से काम नहीं चलने वाला। भारतीयों के रोज-मर्रा के जीवन में हिन्दू-मुसलमानों के रहन-सहन और खान-पान में भी एक-दूसरे की सहभागिता आवश्यक है। दोनों ओर धार्मिक कट्टरता को समाप्त करना है। अपने धर्माचरण में विश्वास रखते हुए भी सभी को अपने-अपने धार्मिक आस्थाओं व उपासना पद्धति पर मानवीय एवं आध्यात्मिक मूल्यों को आत्मसात करना है। हमारे कवि अब यह कहने लगे -

*अब मजहब कोई ऐसा भी चलाया जाये,
जिसमें इंसान को इंसान बनाया जाये।
आग झेलम में है, गंगा में भी,
अब कोई बतलाये, कहां जाके नहाया जाये।*

दूसरे कवि ने कहा -

*कोई मस्जिद गुरुद्वारे, न शिवाले होंगे,
सिर्फ तू होगा, तेरे चाहने वाले होंगे।*

भारत में 'धर्म' का अर्थ ही मानवीय मूल्य बढ़ाना है। इस दर्शन एवं विचार से सूफी एवं भक्ति परम्परा चली। हिन्दुओं में भी आर्य समाजी एवं सहजमार्गियों ने कर्मकाण्ड एवं मूर्ति पूजा का विरोध कर निराकार ईश्वर की उपासना पर बल दिया। जैन एवं बुद्ध धर्मों में किसी अन्य धर्म का विरोध नहीं है परन्तु वे मानवीय गुणों की वृद्धि को ही धर्म मानते हैं। कुरआन में भी मूर्ति पूजकों का विरोध किया जाय, ऐसा कहीं भी नहीं है और हिंसा को भी अति आवश्यक परिस्थिति में ही उपयोग में लाया जाये, यह कहा है। इसीलिए एक दूसरे की आस्थाओं पर टीका-टिप्पणी और आघात करना छोड़ना चाहिए। आतंकवादियों द्वारा की गई गतिविधियों से धार्मिक एकता पर चोट नहीं होने



देना है और इस पर राजनीति नहीं की जानी चाहिए। दोनों सम्प्रदायों में दूरी रखने में कुछ लोगों का स्वार्थ सिद्ध होता है परन्तु हमें अपनी कौमी एकता को बनाये रखना है।

मन्दिरों से मस्जिदों तक का सफर कुछ भी न था,

बस हमारे ही दिलों में दूरियां रख दी गईं।

हिन्दू-मुस्लिम ने कभी जब एकता का मन किया,

धर्म की दोनों तरफ, बारीकियां रख दी गईं।

अन्य शायर ने कहा है -

परिन्दों में फिरकापरस्ती नहीं देखी,

कभी मंदिर पे जा बैठे, कभी मस्तिद पे जा बैठे।

धार्मिक संस्थाओं एवं आस्था के केन्द्रों को राजनीति एवं व्यवसाय से दूर रखना है। पर यह नहीं हो पा रहा है। मंदिरों और मस्जिदों से यदि मानव सेवा और आध्यात्म निकल गया तो वे मात्र धन और ऐश्वर्य के प्रतीक बन जाते हैं।

सतह के समर्थक समझदार निकले,

जो गहरे में उतरे, गुनहगार निकले।

बिकाउ-बिकाउ, नहीं कुछ टिकाउ,

मदरसे और मंदिर भी बाजार निकले।

आतंकवादियों के धमाकों में सम्भव है कुछ भारतीय नागरिकों ने मदद भी की हो, परन्तु इस कारण से एक सम्पूर्ण समुदाय को संदेह की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए। यह व्यथा शायरों की पंक्तियों में प्रकट होती है।

जिसे भी जुर्म-गद्दारी में तुम सब कत्ल करते हो,

उसी की जेब से क्यों मुल्क का झंडा निकलता है।

दंगों के बाद शायरों की यह व्यथा समझें।

- **जिन्हें मरने पे भी जलना नहीं था,**
उन्हें जिन्दा जलाया जा रहा है।
- **लोग टूट जाते हैं, इक घर बनाने में,**
तुम तरस नहीं खाते, बस्तियां जलाने में।
- **अण्डा मछली छूकर जिनको पाप लगे,**
उनका पूरा हाथ, लहू में डूबा है।

इस मानसिकता की तुलना अन्य सम्प्रदायों से भी की जा सकती है। आतंकवादियों का मस्तिष्क तैयार किया जाता है, यह समझाकर कि 'इस्लाम खतरे में है' और इसे बचाने के लिए युवकों को आवश्यक हुआ तो अपने प्राणों की भी बलि देनी चाहिए। आतंकी कसाब को यही समझाकर भेजा गया था कि हिन्दुस्तान में इस्लाम के समर्थकों को दूसरे नागरिक का दर्जा है और उन पर अत्याचार हो रहे हैं। आतंकवादियों की इस मानसिकता को भारतीय मुसलमान ही तोड़ सकते हैं यदि वे एक-जुट होकर विश्व के समक्ष सत्य उजागर करें कि भारत में अल्प संख्यकों को न केवल पूर्ण संरक्षण है परन्तु विशेष सुविधायें हैं। पाकिस्तान के मुसलमानों की जनसंख्या से भारत के मुसलमानों की जनसंख्या दोगुनी-तिगुनी है और वे धर्म निरपेक्ष भारत के वासी हैं। पाकिस्तान के मुसलमानों की इस्लामिक राज्य की मानसिकता और भारत के मुसलमानों की मानसिकता में अन्तर होना ही चाहिये। अपने धार्मिक समाज के स्त्री-पुरुष के मानव अधिकारों की सुरक्षा हेतु उन्हें मानवोचित कानून बनाने पर आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उन्हें अपनी धार्मिक सहिष्णुता को बढ़ाये रखना चाहिए।

कश्मीर समस्या

कश्मीर समस्या का समाधान न होने से भारत लगातार आतंकवादियों के निशाने पर है। आजादी के 66वर्ष की लम्बी अवधि बीत जाने के बाद भारत के लिए यह सत्य झुठलाने योग्य नहीं होगा कि कश्मीर के लोग भारत के साथ नहीं हैं। केवल सेना के सहयोग से हमेशा के लिए किसी क्षेत्र के निवासियों को मजबूर नहीं किया जा सकता। अब तो प्रमाणित हो चुका है कि कश्मीर की राजनीतिक पार्टियां भी आतंकवादियों का सहयोग व समर्थन प्राप्त करती हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व ही कश्मीर विधानसभा में प्रस्ताव लाने का प्रयत्न किया गया कि लोकसभा भवन पर आतंकवादी हमले के दोषी अफजल को मृत्यु दण्ड से माफ किया जाये। भारत की न्यायपालिका द्वारा मृत्यु दण्ड देने तथा राष्ट्रपति द्वारा दया याचिका अस्वीकार कर देने के पश्चात् कश्मीर राज्य की विधानसभा मृत्यु दण्ड को आजीवन कारावास में परिवर्तित किये जाने का प्रस्ताव लाने का



प्रयत्न करता है। यह न केवल संवैधानिक व्यवस्था के विरुद्ध हैं परन्तु यह कृत्य संविधान का अपमान भी है। ये समस्त परिस्थितियां यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि कश्मीर की राजनीतिक पार्टियां, वहां की सरकार तथा वहां की जनता सभी न केवल भारत से जुड़े कश्मीर की आजादी चाहता है परन्तु पाकिस्तान द्वारा अपने आधिपत्य में लिए कश्मीर की भी आजादी चाहता है। कश्मीर के लोग अब दो सीमाओं में बंट गये हैं, एक भारत की और दूसरे पाकिस्तान की। प्रयत्न यह किया जाना चाहिए कि दो देशों की सीमाओं के आधिपत्य में कश्मीर एक हो जाय तथा दोनों देशों का उनसे आवागमन तथा व्यापार का संबंध बना रहे। गांधीवादी समाज के लिए स्व. निर्मला देशपाण्डे ने अपने जीवनकाल में भारत और पाकिस्तान के प्रबुद्ध वर्ग को साथ लेकर यह प्रयत्न भी शुरू किया था कि भारत के विभाजन से दोनों देशों में युद्ध और आतंकवाद की ही स्थिति बनी रही इसलिए पुनः दोनों देश मिलकर एक देश बने या कम से कम भारत के निकटस्थ सभी देशों का एक कान्फैडरेशन बने ताकि सहयोग और मैत्री से सभी का विकास हो।

नक्सलवाद

चारू मजूमदार मार्क्सवादी तथा रक्त क्रांति में विश्वास रखने वाले व्यक्ति ने बंगाल के नक्सलवाड़ी में कार्यक्रम प्रारम्भ किया था। नक्सवादियों की विचारधारा यह है कि वर्तमान शोषणयुक्त तथा भ्रष्टाचार से ग्रस्त राज्य व्यवस्था को हिंसा के माध्यम से उखाड़ फेंकना आवश्यक है ताकि गरीब, दलित और सर्वहारा समुदाय के लोगों का विकास संभव हो सके। उनके हिंसक कार्यक्रमों में सेना, पुलिस और प्रशासन के भ्रष्ट अधिकारी निशाने पर हैं। जंगल में आदिवासियों से वे सहयोग प्राप्त करते हैं। उन्हें यह समझाया जाता है कि यदि उन्होंने हिंसा का अवलम्बन नहीं किया तो वे अपने जीवन पद्धति और जीवन यापन के साधनों को हमेशा के लिए खो देंगे। बंगाल के छोटे से क्षेत्र से शुरू हुआ यह हिंसक कार्यक्रम आंध्र, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ तथा इनसे निकट राज्यों में अपनी जड़ें जमा चुका है। इनके विरुद्ध भी शासन के पास पुलिस और अर्धसैन्य बल का

उपयोग करने के सिवाय कोई दूसरा रास्ता दिखलाई नहीं देता। परिणामस्वरूप आतंकवादियों के सफाये के साथ सेना और पुलिस के लोगों को भी अपने जीवन का बलिदान देना पड़ता है और उनके परिवार सदैव के लिए शासन पर आधारित हो जाते हैं। मानव अधिकारों के संरक्षण की दिशा में आवश्यक है कि वन्य क्षेत्रों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में विकास के कार्यक्रम न केवल प्रारम्भ किये जायें वरन उनका सुपरिणाम सुनिश्चित किया जाये। वर्तमान भारत के विकास की दिशा औद्योगीकरण और शहरीकरण की ओर है। कृषि और ग्रामोद्योग तथा पर्यावरण के साथ वनक्षेत्र में बसे हुए लोगों के विकास के कार्यक्रम उठाये तो जा रहे हैं परन्तु उनका लाभ अपेक्षित परिणाम में उन निवासियों तक नहीं पहुंच रहा है। नक्सलवादियों की धरपकड़ कर उनकी हत्या और उन्हें सजा दिलाने के साथ-साथ इनसे पीड़ित जनता को सभी जन सुविधायें और सुरक्षा दिया जाना अधिक महत्वपूर्ण है। इस दिशा में भी कारगर प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है। भारत के समक्ष गंभीर समस्यायें और चुनौतियां हैं परन्तु उनका न्याय सम्मत एवं मानवीय संवेदनाओं के साथ समाधान नहीं हो सकता ऐसी निराशाजनक स्थिति नहीं है। आवश्यकता है कि भारत की सृजनशक्ति न केवल जागरूक परन्तु सक्रिय हो। अच्छे लोगों की राजनीति में भागीदारी हो और जन-जागरण में सक्रिय सहयोग हो। महात्मा गांधी तथा उनके पूर्व के स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं का साथ देने वाले स्वतंत्रता सेनानियों ने स्वतंत्र भारत का एक सपना देखा था। वह सपना साकार हो सकता है। अंत में कवि की निम्न लिखित पंक्तियों के साथ भारत के सृजन शक्ति को इन चुनौतियों को स्वीकार कर समाधान के लिए आव्हान करता हूँ -

*हम गुजरे कल की आंखों का सपना ही तो हैं,
क्यों माने सपना कोई साकार नहीं होता।
इस दुनियां में अच्छे लोगों का ही बहुमत है,
ऐसा अगर न होता, यह संसार नहीं होता।*

*लेखक म.प्र. मानव अधिकार
आयोग के पूर्व अध्यक्ष हैं।*

□ □ □



कल नहीं आज

● लोकेन्द्र सिंह चौहान

सबसे पवित्र जल
न गंगा का होता है
और ना ही किसी झील का।
सबसे पवित्र जल होता है,
उस बच्चे की डबडबाई आँखों का
जो संघर्ष कर रहा है
अपने अधिकारों के लिए।
कहीं भी।
कभी भी।

सबसे बड़ी खोज
न तो स्वर्ग की होती है
और न ही भगवान की।
सबसे बड़ी खोज होती है
एक मासूस हृदय में जन्म
ले रहे इन्सान की।
कहीं भी।
कभी भी।

सबसे बड़ी शपथ
न गीता की होती है
और ना ही कुरआन की।
सबसे बड़ी शपथ होती है
मौला के नाम पर भीख मांग रहे बच्चे को
उसका हक दिलाने की।
कहीं भी।
कभी भी।

सबसे बड़ा अफसोस
न तो होता है अपना गुम हो जाने का
और न ही जमाने से कुछ पाने का।
सबसे बड़ा अफसोस होता है
एक बच्चे की इच्छाओं का
जीवित दफन हो जाने का।
कहीं भी।
कभी भी।

बच्चों को दीजिए-
विश्वास
प्रेम
और स्वतंत्रता।

बच्चों को चाहिए अधिकार-
अधिकार न्याय का
अधिकार शिक्षा का
अधिकार स्वास्थ्य का
अधिकार संरक्षण
और अधिकार संप्रभुता का।

वह भी
टुकड़ों-टुकड़ों में नहीं
एक पूर्ण अर्थों में।
वह भी
कल नहीं
सिर्फ आज
और अभी।

- लेखक व्याख्याता हैं
“दर्शन आश्रय”, खण्डेलवाल कॉलोनी,
छावनी नाका, आगरा मालवा (म.प्र.)



सामने आई चिंताजनक सच्चाई

● भारत डोगरा



- कुछ समय पहले विश्व के 17 विख्यात वैज्ञानिकों ने भारत के प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर कहा कि जीएम प्रक्रिया से गुजरने वाले पौधे का जैव-रसायन बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाता है, जिससे उसमें नए विषैले या एलर्जी उत्पन्न करने वाले तत्वों का प्रवेश हो सकता है व उसके पोषण गुण कम हो सकते हैं या बदल सकते हैं।
- मसलन, मक्के की जीएम किस्म जीएम एमओएन 810 की तुलना गैर-जीएम मक्के से करें तो इस जीएम मक्का में 40 प्रोटीनों की उपस्थिति महत्वपूर्ण हद तक बदल जाती है। जीव-जंतुओं को जीएम खाद्य खिलाने से किडनी, यकृत, पेट व प्रतिरोधक क्षमता पर नकारात्मक परिणाम सामने आ चुके हैं।



वै से तो जीएम (जेनेटिकली मोडीफाइड) या जीन संवर्द्धित फसलों के दुष्परिणामों के बारे में पहले भी कई महत्वपूर्ण अनुसंधान सामने आ चुके हैं पर हाल में फ्रांस के प्रोफेसर सेरेलिनी के अनुसंधान को विशेष तौर पर अहम माना जा रहा है। इस नए अनुसंधान ने और भी प्रामाणिक रूप से बहुत गंभीर स्वास्थ्य के खतरों की चेतावनी दी है। जेनेटिक इंजीनियरिंग से प्राप्त फसलों को संक्षेप में जोई या जीएम फसल कहते हैं। सामान्यतः एक ही पौधे की विभिन्न किस्मों से नई किस्में तैयार की जाती रहीं हैं, जैसे गेहूं की दो किस्मों से एक नई गेहूं की किस्म तैयार कर ली जाए पर जेनेटिक इंजीनियरिंग में किसी भी पौधे या जंतु के जीन या आनुवांशिक गुण का प्रवेश किसी अन्य पौधे या जीवन में करवाया जाता है, जैसे आलू के जीन का प्रवेश टमाटर में करवाना या सूअर के जीन का प्रवेश टमाटर में करवाना या मछली के जीन का प्रवेश सोयाबीन में करवाना या मनुष्य के जीन का प्रवेश सुअर में करवाना

आदि। यह कार्य जीन बंदूक से पौधे की कोशिका पर बाहरी जीन दाग कर किया जाता है या किसी बैक्टीरिया में बाहरी जीन का प्रवेश कर उससे पौधे की कोशिका का संक्रमण किया जाता है।

जेनेटिक इंजीनियरिंग से प्राप्त की गई फसलों का मनुष्यों व सभी जीवों के स्वास्थ्य पर बहुत प्रतिकूल असर पड़ सकता है। निष्ठावान वैज्ञानिकों के अथक प्रयासों से जीएम फसलों के गंभीर खतरों को बताने वाले दर्जनों अध्ययन उपलब्ध हैं। जैफरी एम. स्मिथ की पुस्तक 'जेनेटिक रुलेट' के 300 से अधिक पृष्ठों में ऐसे दर्जनों अध्ययन का सार-संक्षेप उपलब्ध है। इनमें चूहों पर हुए अनुसंधानों में पेट, लिवर, आंतों जैसे विभिन्न महत्वपूर्ण अंगों के बुरी तरह क्षतिग्रस्त होने की चर्चा है। जीएम फसल या उत्पाद खाने वाले पशु-पक्षियों के मरने या बीमार होने की चर्चा है व जेनेटिक उत्पादों से मनुष्यों में भी गंभीर स्वास्थ्य समस्याओं का वर्णन है। 'यूनियन ऑफ कंसर्नड साइंटिस्ट्स' नामक



वैज्ञानिकों के संगठन ने कुछ समय पहले अमेरिका में कहा था कि जेनेटिक इंजीनियरिंग के उत्पादों पर फिलहाल रोक लगनी चाहिए क्योंकि यह असुरक्षित हैं। इनसे उपभोक्ताओं, किसानों व पर्यावरण को कई खतरे हैं। इंडिपेंडेंट साइंस पैनल में मौजूद 11 देशों के वैज्ञानिकों ने जीएम फसलों के स्वास्थ्य के लिए अनेक संभावित दुष्परिणामों की ओर ध्यान दिलाया है - जैसे प्रतिरोधक क्षमता पर प्रतिकूल असर, एलर्जी, जन्म विकार, गर्भपात आदि।

कुछ समय पहले विश्व के 17 विख्यात वैज्ञानिकों ने भारत के प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर इस बारे में कहा गया कि जीएम प्रक्रिया से गुजरने वाले पौधे का जैव-रसायन बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाता है। जिससे उसमें नए विषैले या एलर्जी उत्पन्न करने वाले तत्वों का प्रवेश हो सकता है व उसके पोषण गुण कम हो सकते हैं या बदल सकते हैं। उदाहरण के लिए मक्के की जीएम किस्म 'जीएम एमओएन 810' की तुलना गैर-जीएम मक्के से करें तो इस जीएम मक्का में 40 प्रोटीनों की उपस्थिति महत्वपूर्ण हद तक बदल जाती है। जीव-जंतुओं को जीएम खाद्य खिलाने पर आधारित अनेक अध्ययनों से जीएम खाद्य के किडनी, यकृत, पेट व निकट के अंगों व प्रतिरोधक क्षमता पर नकारात्मक स्वास्थ्य असर सामने आ चुके हैं।

इस पत्र में आगे कहा गया है कि जिन जीएम फसलों को स्वीकृति मिल चुकी है, उनके संदर्भ में भी अध्ययनों से यह नकारात्मक स्वास्थ्य परिणाम नजर आए हैं जिनसे पता चलता है कि कितनी अपूर्ण जानकारी के आधार पर स्वीकृति दे दी जाती है व आज भी दी जा रही है। इन वैज्ञानिकों ने कहा कि जिन जीव-जंतुओं को बीटी मक्का खिलाया गया उनमें प्रत्यक्ष विषैलेपन का प्रभाव देखा गया। बीटी मक्के पर मानसैंटो के अपने अनुसंधान का जब पुनर्मूल्यांकन हुआ तो अल्पकालीन अध्ययन में भी नकारात्मक स्वास्थ्य परिणाम दिखाई दिए। बीटी के विषैलेपन से एलर्जी के रिएक्शन का खतरा जुड़ा हुआ है। बीटी बैंगन जंतुओं को फीड करने के अध्ययनों पर जो दस्तावेज तैयार किया, उससे लिवर, किडनी, खून व पैक्रियास पर नकारात्मक

स्वास्थ्य परिणाम विभिन्न जीव-जंतुओं पर विशेषकर चूहे, खरगोश व बकरी पर नजर आते हैं। केवल 90 दिन या उसके भी कम अवधि के अध्ययन में भी ये प्रतिकूल परिणाम नजर आए जबकि जीवनभर के अध्ययन से और भी कितने प्रतिकूल परिणाम सामने आते, इस पर प्रश्न खड़े हो गए हैं।

फ्रांस में माइक्रोबायोलॉजी के प्रोफेसर एरिक सेरालिनी के सबसे नए अनुसंधान का यही विशिष्ट महत्व है कि वे 90 दिन तक सीमित नहीं रखे गए अपितु दो वर्ष तक चले। इस अध्ययन में जीएम खाद्य मक्का जिन मादा चूहों को खिलाया गया, उनकी मृत्यु की संभावना जीएम खाद्य ने खिलाए जाने वाली मादा चूहों से दो-तीन गुना अधिक पाई गई व किडनी, लिवर व ट्यूमर की आशंका भी बहुत अधिक पाई गई। अधिक दुष्परिणाम 90 दिन के बाद प्रकट हुए जिससे संकेत मिलता है कि यदि पहले भी अध्ययन 90 दिन से आगे तक किए जाते तो उनके भी ऐसे ही परिणाम मिलते।

विश्व के अनेक विख्यात वैज्ञानिकों व अनुसंधानकर्ताओं ने समय पर जीएम तकनीक के खतरों के बारे में चेतावनी देने के प्रयास किए पर इन प्रयासों को तरह-तरह से दबाया गया। इस विषय पर एक बहुत चर्चित पुस्तक है - जेएम स्मिथ की 'जेनेटिक रुलेट'। अनेक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के विशेषज्ञों ने इस पुस्तक को अति मूल्यवान बताया है। इस पुस्तक में स्मिथ ने आंकड़ों और अनुसंधान के सहारे बताया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार के खाद्य व दवा प्रशासन के लिए जो तकनीकी विशेषज्ञ व वैज्ञानिक कार्य करते रहे हैं, वह वर्षों से जीएम उत्पादों से जुड़े हुए विभिन्न गंभीर संभावित खतरों के बारे में चेतावनी देते रहे थे। इसके लिए जरूरी अनुसंधान कराने की जरूरत बताते रहे थे। पर यह काफी देर बाद पता चला कि इस तरह के जीएम उत्पादों पर जो प्रतिकूल राय होती थी, उसे यह सरकारी एजेंसी प्रायः दबा देती थी और जब वर्ष 1992 में खाद्य व दवा प्रशासन ने जीएम उत्पादों के पक्ष में नीति बनाई तो इस प्रतिकूल वैज्ञानिक



राय को गोपनीय रखा गया। लेकिन सात वर्ष बाद जब इस सरकारी एजेंसी के गोपनीय रिकॉर्ड को एक अदालती मुकदमे के कारण सार्वजनिक करना पड़ा तो पता चला कि वैज्ञानिकों की जो राय जीएम फसलों व उत्पादों के प्रतिकूल होती थी, उसे वैज्ञानिकों के विरोध के बावजूद नीतिगत दस्तावेजों से हटा दिया जाता था।

जेएम स्मिथ ने 'जेनेटिक रुलेट' में यह भी विस्तार से बताया है कि अपने उत्पादों पर कंपनियों द्वारा जो टेस्ट किए जाते हैं, उनको जान-बूझकर इस तरह का रूप दिया जाता है कि समस्याएं सामने न आ सकें। कभी सैंपल साइज बहुत छोटा रखा जाता है, कभी तुलनाएं ठीक से नहीं की जाती हैं तो कभी उत्पन्न स्वास्थ्य समस्याओं को नजर अंदाज कर दिया जाता है। विख्यात वैज्ञानिकों के समूह इंडिपेंडेंट साइंस पैनल ने कहा है कि जीएम तकनीक के संदर्भ में और विशेषकर होरिजेंटल जीन ट्रांसफर के संदर्भ में वैज्ञानिक प्रमाणों को दबाने का या उनकी गलत

व्याख्या प्रस्तुत करने का इतिहास रहा है। सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग किए ही नहीं गए, या बुरी तरह किए गए व उनका प्रस्तुतीकरण भी अनुचित ढंग से किया गया। कई प्रयोगों के आगे जो कार्यवाही करनी जरूरी थी, वह नहीं की गई।

भारत में जीएम फसल बीटी कपास या उसके अवशेष खाने के बाद या ऐसे खेतों में चरने के बाद अनेक भेड़-बकरियों के मरने व अनेक पशुओं के बीमार होने के समाचार मिले हैं। डॉ. सागरी रामदास ने इस मामले पर विस्तृत अनुसंधान किया है। उन्होंने बताया है कि ऐसे मामले विशेषकर आंध्रप्रदेश, हरियाणा, कर्नाटक व महाराष्ट्र में सामने आए हैं। लेकिन अनुसंधान तंत्र ने इस पर बहुत कम ध्यान दिया है व इस गंभीर चिंता के विषय को लगातार उपेक्षित किया है।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



“All religions, arts and sciences are branches of the same tree.”

-Albert Einstein

“Insanity is doing the same thing, over and over again, but expecting different results.”

-Albert Einstein



स्त्री अधिकार सभ्य समाज की अनिवार्यता

● शिशिर कुमार यादव

महिलाओं से जुड़ी हिंसा के मामले में महिला को ही दोषी साबित करने की पुरजोर कोशिश की जाती है। घटना के बाद महिला का पहनावा, समय, उसका स्थान विशेष पर होना और चरित्र के सवाल प्रमुख हो जाते हैं लेकिन मौजूदा मामले को किस नजर से देखा जाए। एक पाँच साल की अबोध बच्ची के साथ हुए अपराध उन तमाम आरोपों और वजहों को खोखला साबित कर देते हैं, जिन्हें महिलाओं के प्रति अपराधों की बड़ी वजह माना जाता है। 2011 में गृह मंत्रालय के बलात्कार संबंधी जारी आंकड़ों से पता चलता है कि यौन कुंठित व्यक्ति के लिए महिला की उम्र कोई मायने नहीं रखती।

पिछले कई दिनों से देशभर में महिलाओं के प्रति अपराधों के घिनौने रूप पर विमर्श का माहौल जारी है। अफसोस, यह किसी आत्मचेतना के चलते नहीं बल्कि निर्मम बलात्कार और हत्या से उभरे जनाक्रोश के चलते बन रहा है। 16 दिसम्बर की सामूहिक दुष्कर्म की घटना के लगभग चार महीने बाद भी न शासन प्रशासन चेता है और न समाज के एक हिस्से के लोग दरिंदगी से बाज आ रहे हैं। 16 दिसम्बर 2012 की घटना के बाद एक और वीभत्स बलात्कार की घटना से देश सकते में है और आक्रोशित है। हैरानी है कि बलात्कार जैसे जघन्य अपराध इस बीच बराबर होते रहे और गत 15 अप्रैल को पाँच साल की एक बच्ची के साथ एक बार फिर दरिंदगी की सारी हदें पार हो गईं। इस दरिंदगी बारे में सोच लेने भर से रूह कांप उठती है और वो तमाम दिवास्वप्न बह जाते हैं जिसमें हम खुद को श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी होने का दावा करते आ रहे हैं।

सामान्यतः महिलाओं से जुड़ी हिंसा के मामले में महिला को ही दोषी साबित करने की पुरजोर कोशिश की जाती है। घटना के बाद महिला का पहनावा, समय, उसका स्थान विशेष पर होना और चरित्र के सवाल प्रमुख हो जाते हैं लेकिन मौजूदा मामले को किस नजर से देखा जाए। एक पाँच साल की अबोध बच्ची के साथ हुए अपराध उन तमाम आरोपों और वजहों को खोखला साबित कर देते हैं, जिन्हें महिलाओं के प्रति अपराधों की बड़ी वजह माना जाता है। 2011 में गृह मंत्रालय के बलात्कार संबंधी जारी आंकड़ों से पता चलता है कि यौन कुंठित व्यक्ति के लिए महिला की उम्र कोई मायने नहीं रखती। 2011 में देश में यौन हिंसा के करीब 23939 मामले दर्ज किए हुए। (पुलिस अपने दायित्व में ईमानदारी बरते तो आकड़े कहीं ज्यादा होंगे। इनमें 0-10 साल के बीच 790, 11 में 14 साल के बीच 1568, 15 से 18 साल के बीच 4346, 19 से 30 साल के बीच 12986, 31 से 50 साल के बीच 3573 और



51 से ऊपर आयु की 139 महिलाएं यौन हिंसा की शिकार हुईं। यह स्थिति दिखाती है कि किसी यौन कुंठित व्यक्ति के लिए उम्र के मायने कितने छोटे हैं। विडम्बना यह है कि इन आंकड़ों में घरों में घटने वाली यौन हिंसा के मामले जोड़ दिए जाए तो स्थिति कहीं भी मुंह दिखाने लायक नहीं रहेगी।

इस मामले के बाद एक बार फिर वहीं पुराने सवाल महत्वपूर्ण हो जाते हैं कि क्या हम इसी तरह आगे भी रहने वाले हैं और बदलाव होगा तो कैसे होगा। क्या कठोर कानून इन सारे सवालों का जवाब होगा। दामिनी के मामले में जस्टिस जे एस वर्मा कमेटी की रिपोर्ट आने तक और उसके लागू हो जाने के बाद भी महिलाओं के प्रति न तो अपराधों की प्रति रवैया बदला है और न संबंधित अपराधों की संख्या में कोई कमी आई है। हर दिन के अखबार बलात्कार की घटनाओं से रंगे हुए हैं। इससे एक बात तय हो जाती है कि हम ऐसे सामाजिक और राजनीतिक ढांचे में जी रहे हैं, जिसमें आधी दुनिया की भागीदारी स्त्री के मूलभूत अधिकारों को हम मध्ययुगीन बर्बर तरीके से कुचल रहे हैं। हम ऐसे समाज में जी रहे हैं जहां महिलाओं के प्रति इस बर्बरता को जिंदा रखने के लिए चरणबद्ध तरीके से जाल बुने जाते हैं। भ्रूण हत्या, परिवार के अन्दर यौन हिंसा, दहेज हत्या आदि के रूप में उसके खिलाफ होने वाले अपराधों की फेहरिस्त उसके गर्भ में जन्म लेते ही परिवारों से ही शुरू हो जाती है। यह सारी स्थितियां स्त्रियों के विरुद्ध घर-परिवार और समाज द्वारा किये जाने वाले अपराध हैं।

कहने की जरूरत नहीं है कि हम जिस देश में रह रहे हैं, वहां इन अपराधों को सामाजिक और राजनीतिक मान्यता की अदृश्य शक्ति मिली हुई है। हम और आप इन्हें पहचानते और जानते भी हैं और कई बार इनका हिस्से भी होते हैं पर बदल नहीं पाते हैं। हमें इनसे दिक्कत सिर्फ तब

होती है जब यह हमारे किसी अपने के साथ घटित हो। यही नहीं, ऐसे अपराधों के बाद आने वाली प्रतिक्रियाओं पर नजर डालने से इन अपराधों को मौन स्वीकृति दिलाने वाले चेहरे भी साफ नजर आने लगते हैं। दिल्ली के इस मामले के बाद समाज और सार्वजनिक मंचों से आते अनेक बयान उसकी बानगी हैं। समझा जा सकता है कि ऑनर किलिंग को भावनात्मक और सामाजिकता से जुड़ा मुद्दा मानने वाले और भ्रूण हत्या को गुपचुप बढ़ावा देने वाले समाज से, यौन हिंसा जैसे मामले पर ईमानदारी भरी प्रतिक्रिया और बदलाव की उम्मीद करना कहां तक समझदारी भरा कदम होगा।

निसंदेह मात्र कानून इस तरह के कुंठित और जघन्य अपराधों के लिए पूर्ण इलाज नहीं है। कानून इस इलाज का एक उपकरण मात्र है। इन अपराधों से लड़ने के लिए बड़ी इच्छाशक्ति और सामाजिक सोच में बदलाव की जरूरत है, जहां महिलाएं पितृसत्ता के ढांचों में फंसी नैतिकता की बेड़ियों से निकलकर आजादी की सांस ले सके। निश्चित ही अच्छे और बुरे गुण हर सामाजिक व्यवस्था का हिस्सा होते हैं और कोई भी सामाजिक व्यवस्था आदर्श व्यवस्था नहीं हो सकती। भारतीय सामाजिक व्यवस्था उससे इतर नहीं है।

बहरहाल, समाज में महिलाओं के प्रति अपराध होते ही रहे हैं। यह समाज का हिस्सा रहे हैं। इनका इतिहास बर्बर काल से है और आज भी अनवरत जारी है। भविष्य में भी इस अपराध वृत्ति पर शायद ही रोक लग सके। फिर भी सरकार और समाज का दायित्व है कि उसका भरसक विरोध हो। विरोध के लिए खुद के घर को ही प्राथमिक प्रयोगशाला बनाएं। अगर घर बदलेगा तो देश के लिए युगान्तरकारी परिवर्तन महसूस होंगे।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





जलवायु परिवर्तन में निहित खतरे

● डॉ. विशेश्वर मिश्र



गहराई से चिंतन करने पर यह आभास होता है कि संभवतः यह जलवायु परिवर्तन के परिणाम हैं। जलवायु परिवर्तन का तात्पर्य पृथ्वी के मौसम में बदलाव से है जिसमें तापमान, पवन और वर्षा के प्रारूप में परिवर्तन शामिल है, जो कुछ विशिष्ट गैसों - कार्बनडाइऑक्साइड, मिथेन, नाइट्रस आक्साइड आदि की अधिक मात्रा होने के कारण घटित होती है। इन गैसों की बढ़ती मात्रा के कारण वायुमंडलीय तापमान से बढ़ोतरी होती है जिसकी वजह से अन्य परिवर्तन प्रभावित होते हैं।



दु

निया में सबसे अधिक वर्षा वाले स्थान के रूप में विख्यात चेरापूंजी में सूखा पड़ना, थार मरुस्थल युक्त शुष्क प्रदेश राजस्थान में बाढ़ का आना, भारत के मैदानी भाग में बर्फबारी एवं बेमौसम बरसात और आले पड़ना, हिमनदियों और भूगर्भीय जलस्तर का तेजी से घटने जाना आदि कुछ ऐसी घटनाएं हैं जो हमें विस्मित तो करती ही हैं, साथ ही प्रथम दृष्टि में कुछ समझ में नहीं आता है कि यह सब क्यों हो रहा है? गहराई से चिंतन करने पर यह आभास होता है कि संभवतः यह जलवायु परिवर्तन के परिणाम हैं। जलवायु परिवर्तन का तात्पर्य पृथ्वी के मौसम में बदलाव से है जिसमें तापमान, पवन और वर्षा के प्रारूप में परिवर्तन शामिल है, जो कुछ विशिष्ट गैसों - कार्बनडाइऑक्साइड, मिथेन, नाइट्रस आक्साइड आदि की अधिक मात्रा होने के कारण घटित होती है। इन गैसों की बढ़ती मात्रा के कारण वायुमंडलीय तापमान से बढ़ोतरी होती है जिसकी वजह से अन्य परिवर्तन प्रभावित होते हैं।

एशियन डेवलपमेंट बैंक के अनुमान के अनुसार विगत एक दशक में दुनिया के चार देश- भारत, बांग्लादेश, फिलीपींस और वियतनाम, प्राकृति आपदाओं के कारण लगभग 20 अरब अमेरिकी डॉलर का नुकसान उठा चुके हैं और आगे आने वाले समय में, यदि समय रहते हुए कुछ कारगर कदम नहीं उठाए गए तो यह नुकसान लगातार

बढ़ता ही जाएगा। विगत दो दशकों से अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने यह स्वीकार करना प्रारंभ कर दिया है कि जलवायु में परिवर्तन आ रहे हैं और लगातार इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि 'ग्रीन हाउस' गैसों के उत्सर्जन को कैसे कम किया जाए तथा जलवायु परिवर्तन के दुष्प्रभाव से बचने के लिए कारगर कार्यनीति कैसे लागू की जाए।

आमतौर पर वैश्विक तापमान में एक-दो अंश सेंटीग्रेड की वृद्धि बहुत सामान्य प्रतीत होती है। विगत 100 वर्षों में यह वृद्धि मात्र 0.740 सेंटीग्रेड रही है। सत्तर के दशक में वैश्विक तापमान 140 सेंटीग्रेड था और 20 सेंटीग्रेड वृद्धि का अर्थ 14 प्रतिशत की वृद्धि है। प्राकृतिक रूप से पृथ्वी के वायुमंडल में ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा मात्र एक प्रतिशत ही है जो शीशे की परत की तरह कार्य करते हुए ताप को बाहर नहीं जाने देती है। ग्रीन हाउस गैसों में और बढ़ोत्तरी का अर्थ है बढ़ता हुआ वैश्विक तापमान। ग्रीन हाउस गैसों- कार्बनडाइ ऑक्साइड, मिथेन और नाइट्रस आक्साइड-कोयला, तेल और प्राकृतिक गैसों को जलने से कृषि में प्रयुक्त रसायनों एवं औद्योगिक प्रदूषण से उत्पन्न होती है। लगातार घटते जा रहे हरित क्षेत्र स्थिति को बद से बदतर बनाते जा रहे हैं। ऐसा आकलन किया गया है कि औद्योगिक विकास के पूर्व कार्बनडाइऑक्साइड 278 भाग प्रति दस लाख था, जो अब 380 हो चुका है। यह लगातार



3.5 प्रतिशत की दर से प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। इसकी बढ़ोतरी का अर्थ है बढ़ते हुए खतरे।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि जलवायु परिवर्तन का स्वास्थ्य, ऊर्जा के स्रोतों और खाद्य उत्पादन व्यवस्था पर भयावह प्रतिकूल प्रभाव होगा। पहले से गरीबी और अभाव में जीवन यापन कर रहे लोगों पर इसका और भी अधिक गंभीर और बुरा प्रभाव होगा। नैतिकता के आधार पर यह वैश्विक न्याय की चिंता का एक विषय है कि वे लोग जिन्होंने पर्यावरण प्रदूषण के लिए कुछ भी नहीं किया या कम से कम किया, वे इसके सबसे अधिक बुरी तरह प्रभावित होंगे।

जलवायु परिवर्तन के दृष्टिगत दुष्प्रभावों की चर्चा की जाए तो यह एक स्थापित तथ्य है कि समुद्र तल में 10 से 20 सेंटीमीटर की बढ़ोतरी हो चुकी है और यदि यह इसी गति से बढ़ता जा रहा तो अंडमान निकोबार, मारिशस, मालदीव, इंडोनेशिया और फिलीपींस के बहुत से निम्नस्तरीय द्वीप दुनिया के मानचित्र से सदा-सदा के लिए गायब हो जाएंगे। ग्लोबल ह्यूमेनिटेरियन फोरम के अनुमान के अनुसार जलवायु परिवर्तन के प्रतिकूल प्रभावों के कारण प्रतिवर्ष दुनिया में लगभग तीन लाख लोग मर जाते हैं। इसमें वीमारियों एवं कुपोषण के कारण होने वाली मौतें भी शामिल है। इसके अतिरिक्त करीब 33 लाख लोग किसी न किसी प्रकार से प्रभावित होते हैं तथा लगभग चार अरब लोगों का जीवन खतरे में है और इनमें से 98 प्रतिशत लोग विकासशील देशों में रहने वाले हैं।

यदि इस दृष्टि से भारत पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाए तो भारत के योजना आयोग के पर्यावरण एवं वन प्रकोष्ठ के अंतर्गत जलवायु परिवर्तन की चर्चा की गई है। इस प्रकोष्ठ के अनुसार भारत का लगभग 60 प्रतिशत भूभाग भूकंप, आठ प्रतिशत बाढ़ और 68 प्रतिशत सुखे की संभावना वाला है। इसी प्रकार कुल 7500 किलोमीटर लंबे समुद्र तट में से 5700 किलोमीटर ऐसा है जहां तूफान की आशंका बनी रहती है। अतः भारत जैसे विकासशील

राष्ट्र के लिए आवश्यक हो जाता है कि इस दिशा में जितना शीघ्र हो सके सकारात्मक कदम उठाए, अन्यथा इसकी बहुत भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है। ज्ञातव्य है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है और मानसून के बदले हुए मिजाज का इस पर क्या असर होगा इसे आसानी से समझा जा सकता है। भारत जैसे विशाल क्षेत्रफल एवं जनसंख्या वाले राष्ट्र में सबसे बड़ी चुनौती जनसामान्य के चेतना जागरण से जुड़ी है। आम लोगों को यह बात समझनी होगी कि प्राकृतिक संपदाओं विशेषकर जल, वन, कोयला, पेट्रोल आदि का प्रयोग बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से करना होगा, अन्यथा आने वाला समय बहुत कष्टकारक हो जाएगा। चूंकि भारत एक कृषि प्रधान देश है और जैविक कृषि की समृद्ध विरासत इसके पास है, अतः कृषि में रसायनों के प्रयोग में धीरे-धीरे कमी लाने की आवश्यकता है। ऊर्जा की समस्या से हम पहले से ही जूझ रहे हैं और बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए पर्याप्त ऊर्जा उपलब्ध करा पाना एक चुनौती बनी हुई है। इस चुनौती को दृष्टिगत रखकर बड़े पैमाने पर गैर-परंपरागत स्रोतों से ऊर्जा उत्पादन की योजना बनाकर उस पर अमल करने की आवश्यकता है।

जलवायु परिवर्तन के मसले को लेकर दुनिया भर में बहस चल रही है। विकासशील राष्ट्रों का मानना है कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों ने पर्यावरण को अधिक प्रदूषित किया है, इसलिए इसकी भरपाई उन्हें ही करनी पड़ेगी तथा साथ ही ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लानी होगी। इसमें प्रमुख रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरोपीय देश और जापान शामिल हैं। इसी प्रकार विकसित राष्ट्र चाहते हैं कि यह एक साझा दायित्व है, अतः सभी राष्ट्रों को समान रूप से इस दिशा में कार्य करना चाहिए। भारत जैसे विकासशील देश अपनी औद्योगिक गतिविधियों पर रोक लगाने में असमर्थ हैं परंतु यदि विकसित राष्ट्रों से स्वच्छ एवं सक्षम तकनीक सस्ते दर पर उपलब्ध हो जाए तो कुछ हद तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कटौती की जा सकती है।

□ □ □



लैंगिक उत्पीड़न - आगे बढ़ती महिलाओं के लिए रुकावट

● डॉ. मोहम्मद नजवी

सा मान्य बोलचाल की भाषा में लैंगिक उत्पीड़न से अभिप्राय पुरुषों द्वारा कामकाजी महिलाओं के साथ किया गया अशोभनीय कार्य है। उच्चतम न्यायालय ने विशाखा बनाम राजस्थान राज्य ए.आई.आर. 1997 सुप्रीम कोर्ट 3011 (3) के प्रकरण में लैंगिक उत्पीड़न को परिभाषित करते हुए अभिनिर्धारित किया है कि लैंगिक उत्पीड़न में सम्मिलित है -

1. शारीरिक सम्पर्क करना या शरीर छूना।
2. शारीरिक संबंध बनाने के लिए प्रस्ताव रखना।
3. अश्लील टिप्पणी या संकेत करना।
4. अश्लील या कामोत्तेजक चित्रों का प्रदर्शन करना।
5. अन्य अशोभनीय या अश्लील आचरण करना।

महिलाओं को समता, समानता और गरिमा के साथ विकास में बराबर की भागीदारी बनाने के लिए राज्य शासन प्रतिबद्ध है। उच्चतम न्यायालय ने विशाखा बनाम राजस्थान राज्य (1997) 2 द.प्र.स. 198 (2) में अभिनिर्धारित किया कि :-

भारत के संविधान में गारण्टीकृत मूल अधिकारों के अर्थ व तत्व इतने व्यापक हैं कि लैंगिक उत्पीड़न या दुरुपयोग के निवारण सहित लिंग समता के सभी पहलू उसकी परिधि में आ जाते हैं। न्याय पालिका की स्वतंत्रता हमारी संवैधानिक विधि का एक अंग है। अंतर्राष्ट्रीय कन्वेंशनों और सन्नियमों को संबंधित स्वदेशी विधि के अभाव में उसमें पढ़ा जा सकता है यदि इन दोनों में कोई असंगति अब न्यायिक अर्थाबंधन का यह मान्य सिद्धांत है। दोनों के बीच में कोई असंगति नहीं है और उस पर अपनी कोई विधि नहीं है तो देश की विधि का अर्थान्वयन करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशनों और सन्नियमों को ध्यान में रखा जाय। उच्चतम न्यायालय ने पुनः अभिनिर्धारित किया कि लिंग समता के आधारभूत मानव अधिकार और लैंगिक

उत्पीड़न एवं दुरुपयोग विशेषकर कार्य स्थलों पर लैंगिक उत्पीड़न के विरुद्ध गारण्टी के कारगर प्रवर्तन के लिए उपबंध करने के लिए अधिनियमित विधि के अभाव में हम सभी कार्यस्थलों पर या अन्य संस्थाओं में सम्यक् पालन के लिए इसमें विनिर्दिष्ट दिशा निर्देश और सन्नियम अधिकथित करते हैं जब तक कि इस प्रयोजन के लिए विधान अधिनियमित न किया जाय।

उच्चतम न्यायालय ने एक अन्य प्रकरण वस्त्र निर्यात संवर्धन परिषद बनाम, ए.के. चौपड़ा ए.आई.आर. 1995 सुप्रीम कोर्ट 625(4) में कहा है कि हमारा संविधान लैंगिक समानता की व्यवस्था देता है। पुरुष और महिलाओं को समान अधिकार दिया गया है। मात्र लिंग के आधार पर उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया गया है। अनुच्छेद 21 में पुरुष एवं महिलाओं को जीवन जीने का अधिकार दिया गया है। यदि कोई पुरुष किसी कामकाजी महिला के साथ लैंगिक उत्पीड़न कारित करता है या करने का प्रयास करता है तो निश्चित ही यह महिला के सम्मान और गरिमा के विरुद्ध है।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा

सदियों से चली आ रही इस व्यवस्था को महिलाओं ने इस कदर आत्मसात कर लिया है कि वे अपने ऊपर होने वाली हर हिंसा को अपनी नियति मानकर चुपचाप सह जाती हैं। महिलाओं के खिलाफ हिंसा, सार्वजनिक और निजी जीवन में महिलाओं के खिलाफ सुव्यवस्थित भेदभाव का परिणाम है और एक ऐसा माध्यम भी है जिसके द्वारा महिलाओं के अधिकारों पर प्रतिबंध को और अधिक मजबूत किया जाता है। पूरी दुनिया में भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जहां महिला की देवी के रूप में पूजा की जाती है, लेकिन महिलाओं के खिलाफ हिंसा की तस्वीर कुछ निम्न प्रकार से है -



- हर 3 मरनर पर महिलाओं के साथ अपराध (Crimes against women)
- हर 15 मरनर पर एक महिला के साथ छेड़छाड़
- हर 53 मरनर पर एक यौन उत्पीड़न (Sexual Exploitation)
- हर 9 मरनर पर पति/ररशतेदारों द्वारा प्रताड़रत (Credity by husband/Relatives)
- हर 29 मरनर पर एक बलात्कार (Rape)
- हर 75 मरनर पर एक दहेज हत्या (Downy Death)
- हर 33 मरनर पर एक अपहरण/ले जाना (Kidnapping/Abdnetion)
- हर 4 मरनर पर एक अवेक्षणीय अपराध
- हर 93 मरनर पर एक औसत मार दी जाती है (killing)

यह वरडम्बना नहीं तो और क्या है कर एक तरफ तो हम महिला सशक्तकरण की बात कर रहे है तो दूसरी तरफ वे अपने जीवन के लिए जूझ रही है। एक अध्ययन से पता चला है कर नारी द्वारा ही नारी पर कभी सास तो कभी ननद के रूप में कुरए जाने वाले अत्याचारों में 60 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई है। टेलीविजन सीररयलों ने जले में तेल का काम कुरा है कुरसे महिलाओं के आपसी ररशते में दराद बढ़ी है।

महिलाओं के प्रति भेदभाव एवं लैंगरक उत्पीड़न मानवाधिकार की खुली अवहेलना है। कन्या भ्रूण और नवजात कन्या शरशु हत्या के कारण पल्ले कुछ वर्षों में पूरे वरश्व से 10 करोड़ महिलाएँ गायब हो चुकी हैं। वरश्व स्वास्थ्य संगठन के तत्वाधान में कुरये गये अध्ययन से यह तथ्य सामने आया है कुर कुर देशों में महिलाएँ इस प्रकार कम होती जा रही हैं उनमें भारत का नाम सबसे पहले आता है। इंडरयन मेडरकल एसोसरशन के एक अध्ययन के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष लगभग बीस लाख कन्या भ्रूणों को नष्ट कुरा जाता है। मेनी फेसेज ऑफ जेण्डर इक्वेलरटी नाम पुस्तक में नोबेल पुरस्कार से पुरस्कृत भारतीय अर्थशास्त्री श्री अमर्त्य सेन ने “गुम होती औरतें” वरषय पर गंभीर

चरंता जताई है। भारत में कन्या भ्रूण हत्या के कारण महिला-पुरुष अनुपात में भारी अंतर आया है।

मध्यप्रदेश राज्य में महिलाओं एवं पुरुषों का अनुपातरक अंतर 1000 में

स.क्र.	जरला	वर्ष	
		1991	2001
1.	मुरैना	808	822
2.	भरिण्ड	889	829
3.	ग्वालरयर	831	847
4.	शरवपुरी	849	858
5.	दतरया	847	858
6.	छतरपुर	856	869
7.	वरदरशा	874	876
8.	रायसेन	879	880
9.	सागर	881	884
10.	गुना	875	885
11.	टीकमगढ़	871	886
12.	शयोपुर	880	893
13.	भोपाल	816	896
14.	होशंगाबाद	892	898
15.	दमोह	905	902
16.	पन्ना	897	907
17.	सीहोर	898	908
18.	नरसरंहपुर	913	909
19.	जबलपुर	903	910
20.	इंदौर	906	911
21.	हरदा	914	919
22.	सतना	918	926
23.	शाजापुर	918	927

तुलनात्मक शरशु लरंग अनुपात - जन्म से 6 वर्ष

स.क्र.	जरला	1991	2001	अंतर
1.	ग्वालरयर	888	849	-39
2.	धार	970	941	-29



3.	मुरैना	957	829	-28	33.	बालाघाट	975	974	-1
4.	इन्दौर	940	913	-27	34.	टीकमगढ़	918	919	+1
5.	सीधी	977	950	-27	35.	छतरपुर	919	920	+1
6.	जबलपुर	951	925	-26	36.	देवास	932	934	+2
7.	दतिया	988	975	-24	37.	शाजापुर	928	936	+8
8.	भिण्ड	850	829	-22	38.	मण्डला	978	986	+8
9.	झाबुआ	991	970	-21	39.	सिवनी	972	980	+8
10.	नीमच	948	928	-20	40.	डिंडौरी	980	989	+9
11.	पन्ना	948	932	-16	41.	राजगढ़	931	944	+13
12.	शहडोल	986	970	-16	42.	खरगोन	954	968	+14
13.	उज्जैन	946	933	-13	43.	रायसेन	928	943	+15
14.	बड़वानी	982	969	-13	44.	विदिशा	939	943	+15
15.	हरदा	938	926	-12	45.	दमोह	930	949	+19
16.	बैतूल	980	968	-12	46.	सीहोर	915	935	+20
17.	श्यापुर	941	931	-10	47.	म.प्र.	941	929	-12
18.	रीवा	935	926	-9					
19.	सतना	939	930	-9					
20.	कटनी	959	951	-8					
21.	उमरिया	968	960	-8					
22.	नरसिंहपुर	924	917	-7					
23.	भोपाल	938	931	-7					
24.	खण्डवा	951	944	-7					
25.	शिवपुरी	914	909	-5					
26.	सागर	935	930	-5					
27.	छिन्दवाड़ा	965	962	-4					
28.	गुना	932	929	-3					
29.	मंदसौर	949	946	-3					
30.	होशंगाबाद	929	927	-2					
31.	रतलाम	961	960	-1					
32.	रतलाम	961	960	-1					

यह महसूस किया जाने लगा कि महिलाओं के विरुद्ध किये जाने वाले अत्याचार और अपराधों से निपटने के लिए नये कानून की आवश्यकता है। 1995 में बीजिंग (चीन) में चौथा विश्व महिला सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में भारत ने अन्य बातों के साथ-साथ महिलाओं के बारे में नीति बनाने एवं उसे कार्यान्वित करने पर बल दिया।

सम्मेलन में इस बात पर विशेष बल दिया गया कि महिलाओं के मानव अधिकारों के लोक रक्षक के रूप में कार्य करने के लिए महिलाओं के अधिकारों के लिए एक आयोग की स्थापना की जाय। आज राष्ट्रीय महिला आयोग के साथ-साथ मध्यप्रदेश राज्य में राज्य महिला आयोग का भी गठन हो चुका है और इस आयोग में महिलाओं के अनेकों प्रकरण निपटाये भी हैं ताकि उन्हें आगे बढ़ाया जा सके परन्तु महिलाओं की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। कामकाजी महिलाओं को उनके कार्यालयों में अभी भी पीड़ित किया जा रहा है।



लैंगिक उत्पीड़न निवारण के उपाय :-

महिलाओं के कार्यक्षेत्र में आने के बाद जहाँ एक ओर समाज में विकास और समृद्धि हुई है तो दूसरी ओर महिला उत्पीड़न पर लैंगिक उत्पीड़न के प्रकरणों में भी वृद्धि हुई है। महिलाओं के लैंगिक उत्पीड़न की घटनाओं को रोकने के लिए उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित निर्देश/सुझाव दिये हैं :-

1. जहाँ कामकाजी महिलाएँ हैं, वहाँ के नियोजकों और अधिकारियों का कर्तव्य है कि वे कामकाजी महिलाओं के यौन शोषण का निवारण करें, उन्हें रोकने के उपाय करें और दोषी व्यक्तियों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करें।
2. लैंगिक उत्पीड़न के निवारण हेतु तत्संबंधी निर्देश सूचना पटल पर लगाये जायें और लैंगिक उत्पीड़न के दुष्परिणामों से आम लोगों को अवगत कराया जाय।
3. लैंगिक उत्पीड़न के मुकदमों में पीड़ित महिला और उसके पक्ष में साक्ष्य देने वालों को परेशान ना किया जाय।
4. किसी कार्यस्थल पर कार्यरत व्यक्ति द्वारा महिला का लैंगिक शोषण किये जाने पर उस व्यक्ति के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाय।
5. कामकाजी महिलाओं के लैंगिक उत्पीड़न संबंधी शिकायतों की सुनवायी के लिए शिकायत निवारण समितियों का गठन किया जाय।
6. शिकायत समितियों का अध्यक्ष महिलाओं को बनाया जाय।
7. लैंगिक उत्पीड़न की शिकार महिलाओं को उत्पीड़नकर्ता का स्थानान्तरण या अपना स्वयं का स्थानान्तरण मांगने का विकल्प होना चाहिए।
8. केन्द्र एवं राज्य सरकारों में लैंगिक उत्पीड़न की शिकार महिलाओं को महिला लैंगिक उत्पीड़नकर्ता का स्थानान्तरण या अपना स्वयं का स्थानान्तरण मांगने का विकल्प होना चाहिए।

9. जहाँ लैंगिक उत्पीड़न किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा किया जात है, वहाँ नियोजक सहायता के रूप में पीड़ित महिला को सहायता देने के लिए आवश्यक एवं युक्तियुक्त कदम उठायें।

10. संविधान के अनुच्छेद 16 में लोक नियोजन में लिंग के आधार पर पुरुष एवं महिलाओं में भेदभाव प्रतिबंधित है परन्तु अनुच्छेद 16 के भाग तीन में ही महिलाओं और बच्चों के हित में विशेष कानून बनाये जाने की अनुमति दी गई है।

महिलाओं को उत्पीड़न से बचाने के लिए अनेकों कानून बनाये जा चुके हैं जैसे 1870 का फीमेल इन्फैन्टीसाइट एक्ट जो ब्रिटिश शासन ने पारित किया। भारत में महिलाओं से संबंधित विधवा विवाह अधिनियम 1856, बाल विवाह निषेध अधिनियम 1929, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956, दहेज (निषेध), अधिनियम (1961), (1984 एवं 1986 में संशोधित), सती (निवारण एवं निषेध) अधिनियम 1986, सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 (संशोधन अधिनियम 1989) घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम 2005 आदि उच्चतम न्यायालय ने मधु किश्वर बनाम उड़ीसा राज्य ए.आई.आर. 1999 सुप्रीम कोर्ट 625 में कहा है कि महिलाओं के भेदभाव बरतना भारतीय संविधान में उपबंधित मूल अधिकारों एवं नीति निदेशक तत्वों का विरोध है। आज समाज उस मोड़ पर आ पहुँच है कि नारियों को अपराध से बचाने के लिए और उन्हें समाज में आगे बढ़ने देने के लिए जितने भी कानून बनाये गये हैं उन्हें शक्ति से लागू किया जाय। समाज के सभी वर्गों के लोग, बुद्धिजीवी, सभ्रांत नागरिक, पुलिस और अन्य संस्थाएँ कानून के प्रावधानों को लागू कराने के लिए सामूहिक प्रयास करें अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब नारी समाज के ओझल हो चुकी होगी और हम देखते रह जायेंगे। मेरे स्वयं के विचार में

*हासिल नहीं हुआ है उसे आज तक उरुज,
जिसने किसी औरत को हिकारत से है देखा।*

“नजमी”

□ □ □



ऐसे तो ध्वस्त ही हो जाएगी ग्रामीण अर्थव्यवस्था

● राखी रघुवंशी

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो द्वारा जारी आंकड़ों के अनुसार 1997 से लेकर पिछले साल के अंत तक यानी 15 वर्षों में दो लाख 63 हजार 513 किसानों ने आत्महत्या की, जबकि यह अवधि देश में ऊंची विकास दर की रही। किसानों की आत्महत्या पर अध्ययन करने वाली संस्थाओं-फॉर्मर्स स्यूसाइड इन इंडिया, फॉर्मर्स स्यूसाइड फैक्ट एंड पॉसिबल पॉलिसी इंटरवेंशन्स व नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़े थोड़े पुराने होने के बाद भी दिल दहला देते हैं।

प्रदेश में अभी हाल ही में शीतलहर और पाला पड़ने के कारण तकरीबन पाँच हजार करोड़ रुपए की फसलें बर्बाद हो गईं। इसी के चलते किसानों के आत्महत्या करने का सिलसिला भी एक बार फिर शुरू हो गया है। बेशक, हमारा देश आज भी कृषि प्रधान देश है, तो भी शहरीकरण-औद्योगीकरण के चलते खेती का रकबा निरंतर घटता चला जा रहा है और हमारी कृषि गहरे संकट में फंसी हुई है।

हाल ही में राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो द्वारा जारी आंकड़ों के अनुसार 1997 से लेकर पिछले साल के अंत तक यानी 15 वर्षों में दो लाख 63 हजार 513 किसानों ने आत्महत्या की, जबकि यह अवधि देश में ऊंची विकास दर की रही। किसानों की आत्महत्या पर अध्ययन करने वाली संस्थाओं-फॉर्मर्स स्यूसाइड इन इंडिया, फॉर्मर्स स्यूसाइड फैक्ट एंड पॉसिबल पॉलिसी इंटरवेंशन्स व नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़े थोड़े पुराने होने के बाद भी दिल दहला देते हैं।

इनके अनुसार ही पाँच राज्यों- महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़, आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश और कर्नाटक में किसानों की आत्महत्या

की दर सबसे अधिक है। किसानों की आत्महत्या के जो कुल आंकड़े हैं, इनमें से 62 फीसदी मामले इन्हीं पाँच राज्यों के हैं। सरकार ने आत्महत्या करने वाले किसानों के परिवारों को राहत देने हेतु कानून तो बनाया है, मगर उसका पालन न करने वाले सरकारी अधिकारी ऐसी ही दलीलें देते हैं, ताकि आत्महत्या करने वाले किसानों के परिवारों को क्षतिपूर्ति की कोई रकम न देनी पड़े।

यदि पिछले तीन-चार वर्षों में प्रदेश में घटी कुछ घटनाओं पर नजर डालें, तो दमोह जिले के ग्राम कुलुआ के नंदराम रैकवार ने फसल नष्ट होने पर आत्मदाह कर लिया था। होशंगाबाद जिले के बनखेड़ी विकासखंड के अमान सिंह ने जहरीली दवा पीकर आत्महत्या कर ली थी, उस पर बैंक का लगभग एक लाख का कर्ज था। रीवा के घोपकरा गांव में अमरनाथ ने बिजली विल न चुका पाने पर अधिकारियों द्वारा जेल भेजने की धमकी से आत्महत्या कर ली थी।

ऐसे बहुत से उदाहरण हैं और रायसेन का मामला तो अभी ताजा ही है। किसान-आत्महत्या का सबसे बड़ा कारण कर्ज है, तो बिजली संकट, सिंचाई के लिए पानी,



खाद, बीज, कीटनाशकों की उपलब्धता में कमी और मौसमी प्रकोप भी इसके लिए जिम्मेदार हैं। खेती पर निर्भर किसानों को अपनी उपज का उचित मूल्य भी न मिलता इसमें शामिल है, जिससे वह कर्ज के बोझ में दबता चला जाता है। प्रदेश सरकार खेती को जहां लाभ का धंधा बनाने का राग अलाप रही है, तो वहीं किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं है, क्योंकि योजनाओं का लाभ उन्हें कम ही मिल पाता है। एक और दिक्कत यह है कि कई सहकारी संस्थाओं ने घटिया खाद-बीज व कीटनाशकों की आपूर्ति करके किसानों को बेवजह कर्जदार बना दिया है। फिर, खराब खाद-बीज और दवाइयों के कारण फसलें भी चौपट हो गईं। हालांकि, केंद्र सरकार ने कुछ ऋणग्रस्त किसानों के कर्ज माफ किए थे, 2009 के लोकसभा चुनाव से पहले, पर इसका खुलासा भी हो चुका है कि इस कर्ज माफी में भारी घोटाला हुआ है, पूरे देश में और मध्यप्रदेश भी इसका अपवाद नहीं है। प्रदेश में करीब 115 करोड़ रुपए के ऋण माफ नहीं हो पाए। प्रदेश में करीब 32 लाख 11 हजार किसान आज भी ऋणग्रस्त हैं। यहां औसतन हर किसान पर 14218 रुपए का कर्ज है, जबकि यहां 30 फीसदी से अधिक किसान ऐसे हैं, जिनके पास महज एक से तीन हेक्टेयर तक ही कृषि भूमि है। यह तो महज सरकारी आंकड़े हैं, प्रदेश में साहूकारों और बड़े व्यापारियों का कर्ज भी किसानों को चैन से रहने नहीं दे रहा होगा।

फिर, बिजली की किल्लत तो है ही। अटल ज्योति अभियान के बावजूद प्रदेश के किसानों को आज भी वमृशिकल आठ से 10 घंटे ही बिजली मिल पा रही है। प्रकृति की मार से बेहाल किसान विद्युत वितरण कंपनियों की अंधेरगर्दी से भी दहशतजदा हैं। यह शिकायतें बिलकुल रोजमर्रा की बात हैं कि किसानों को अनाश-शनाप बिल पकड़ा दिए जाते हैं और जब वे बिल भरते नहीं हैं, तो उनका कनेक्शन काट दिया जाता है। इस ओर ध्यान देने की जरूरत है।

बहरहाल, मानसून के भरोसे जीने और प्राकृतिक आपदाओं से मुरझा जाने वाले ग्रामीण अर्थतंत्र में अब

आत्मनिर्भरता का भाव घटता जा रहा है। सिंचाई, जुताई से लेकर बाजार तक आने में हर ओर निर्भरता के साथ उत्पादन लागत बढ़ने का ऐसा दुष्चक्र है कि किसी भी मोर्चे पर चूके, तो उसकी मार इतनी गहरी होती है कि कब आदमी मौत को गले लगा लेता है, किसी को पता नहीं चलता। पता चलता भी है, तो वह मौत सिर्फ एक खबर, सहानुभूति या आंकड़ा बनकर रह जाती है। हालात ऐसे हैं कि आधुनिकता की दौड़ में तेज नजर आने वाले राज्य ग्रामीण अर्थतंत्र और किसान आत्महत्याओं के मामले में बीमार होते लगते हैं, जबकि बिहार, झारखंड, उड़ीसा जैसे पिछड़े राज्य इस बीमारी से लगभग मुक्त हैं। यानी, पिछड़े होने के बाद भी वहां कुछ तो है, जो विकसित प्रदेशों से अलग है और जिसने वहां किसान को आत्महत्या की वृत्ति से बचाकर रखा है।

इस तथ्य को यहां पेश करने का तात्पर्य यह नहीं है कि पिछड़े रहकर सुरक्षित रहो, बल्कि यह है कि विकास की रफ्तार इतनी सधी अवश्य रहे कि जान का जोखिम न बढ़े। इसका मतलब यह है कि सोने की चिड़िया कहलाने वाले काल में 'उत्तम खेती अधम चाकरी' वाले जीवनचक्र के आउटडेटेड हो चुके फॉर्मूले को झाड़ू-पोंछकर रिनोवेट करने का समय आ गया है, ताकि खेती लाभ का धंधा बने और ग्रामीण अर्थतंत्र इतना विकसित हो कि वह शहरीकरण की होड़ में न पड़े, बल्कि शहर उसकी शरण में जाए और तब वह उसे आधुनिकीकरण की तरह स्वीकार करे। इसके लिए जरूरी है कि नियोजन कुछ इस तरह से हो कि गांवों की अर्द्धविकसित शहरों का स्वरूप नहीं दिया जाए, बल्कि उन्हें अपनी पहचान के साथ इतना आधुनिक और अधोसंरचना से जुड़ा बनाया जाए कि वे खुद को समृद्ध करते हुए शहरों की प्राणवायु बन जाएं। जाहिर है कि यह कार्य किसानों को ताकत दिए बिना नहीं होगा। प्रदेश सरकार किसानों के कल्याण के दावे तो कर रही है, पर जब तक सकारात्मक परिणाम न दिखने लगें, ये दावे कोरे दावे ही माने जाएंगे।

साभार : राज एक्सप्रेस





आदिवासी विकास और अनुसूचित जनजाति आयोगों की उपादेयता

• डॉ. आलोक पाण्डेय



आदिवासियों के विकास के लिये उपलब्ध वित्तीय संसाधन के समुचित उपयोग, विद्यालयों में उनके बच्चों और बच्चियों के बेहतर शिक्षा अर्जन, स्थानीय स्तर पर रोजगार के बेहतर अवसर, स्थानीय स्वशासन में वास्तविक भागीदारी और जंगल तथा जमीन पर आदिवासियों के मालिकाना हक को सुनिश्चित कराने के लिये अनुसूचित जनजाति आयोगों को सशक्त करना व वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण जरूरत है।



सूखे की भयंकर मार झेल रहे महाराष्ट्र में भ्रष्टाचार की एक नयी बेल ने एक बार फिर राज्य के आदिवासियों को अपने पाश में जकड़ने का प्रयास किया है। राज्य के विदर्भ इलाके में अपनी जड़ों को कोयला क्षेत्र घोटाला, सिंचाई घोटाला जैसी बेलों के रूप में मजबूत कर एक आदर्श भ्रष्टाचार का रूप धारण करने की दिशा में और आगे बढ़ती हुयी घोटाले की एक नई बेल आदिवासी विकास घोटाले का शकल लेकर मराठावाड़ा तक फैल जाने के कारण चर्चा में आयी। यद्यपि भारत जैसे 'शाइनिंग इंडिया' वाले देश में लाखों करोड़ों के परिणाम होने पर चर्चा में आने वाले घोटालों की तुलना में 6000 करोड़ का यह घोटाला कहीं नहीं ठहरता किन्तु एक राज्य के एक बड़े हिस्से वाली आबादी के विकास के लिये खर्च की जाने इस राशि का गबन कर दिये जाने के कारण इसकी चर्चा करना और इसकी तह तक जाना जरूरी है। इस विषय पर

गंभीरता से चर्चा करना इस लिये भी जरूरी है क्योंकि यह मुद्दा महाराष्ट्र के साथ ही देश के उन तमाम आदिवासियों के विकास से जुड़ा है जिसे कभी देश के किसी राष्ट्रपति ने गोद लेकर उसके हक को दिलाने की बात कही तो कभी किसी राज्य के मुख्यमंत्री ने समारिक महत्व के कारण उन्हें अनुसूचित जनजाति का दर्जा दिलवा कर संतुष्ट करने का प्रयास किया।

आजादी के बाद से ही देश में आदिवासियों को विकास की मुख्यधारा में लाने की तमाम कोशिशें की गयीं। संविधान में आदिवासियों को विशेष दर्जा देने के बाद इनके विकास के लिये विशेष योजनाओं (स्पेशल कम्पोनेंट प्लान) के अंतर्गत आदिवासी उप-योजना का आरम्भ किया गया। योजना की राशि का समुचित उपयोग हो और वित्तीय संसाधन की कमी न हो इस लिये इस योजना में यह प्रावधान भी किया गया कि राज्यों को उनके कुल अनुसूचित



केन्द्र और राज्य सरकारों के द्वारा गठित आयोग अपनी भूमिकाओं को बेहतर तरीके से निभा सके इसके लिये आयोगों के अध्यक्षों को मंत्री-परिषद् के सदस्य का दर्जा भी दिया गया है। किन्तु इन सारी प्रक्रियाओं के बाद भी पंचवर्षीय योजनाओं के दस्तावेजों में आदिवासियों की कमजोर सामाजिक-आर्थिक स्थिति का वर्णन और उनके विकास के लिये आबंटित राशि का अनुचित इस्तेमाल सरकारों के काम करने के तरीके के साथ ही आदिवासियों के विकास के लिये गठित किये गये आयोगों की उपादेयता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाता है।

जनजाति की आबादी के अनुपात में राशि उपलब्ध करायी जाये तथा वित्तीय वर्ष की समाप्ति के बाद योजना- राशि में बची पूँजी को वापस न करके उसे अगले वित्तीय वर्ष में भी उपयोग करने की मंजूरी दे दी जाय। किन्तु देश की 11वीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) के मध्यावधि मूल्यांकन और 12वीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) के योजना के दस्तावेज यह स्पष्ट बताते हैं कि आदिवासी उप-

योजना के क्रियान्वयन में केन्द्र और राज्य सरकारों के स्तर पर कमी रही है।

ऐसा नहीं है कि आदिवासी उप-योजना के ही क्रियान्वयन में विभिन्न सरकारों की कमी कोई नयी बात है या विभिन्न सरकारों के पूर्व के क्रियाकलापों में किसी अन्य प्रकार की कमी न रही हो। किन्तु कमियों से जुड़े इन्हीं अनुभवों के आधार पर सरकार के स्तर पर आदिवासी विकास मंत्रालय और विभागों के गठन के बाद भी आदिवासियों के चहुँमुखी विकास को सुनिश्चित करने के लिये संवैधानिक तरीके से अनुसूचित जाति आयोगों का गठन करने के विचार को आगे बढ़ाया गया। इन आयोगों को आदिवासियों के विकास से जुड़े विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों की नियमित देख-रेख करने और आदिवासियों के विकास के लिये अनुशंसा करने की जिम्मेदारी प्रमुखता से दी गयी। केन्द्र और राज्य सरकारों के द्वारा गठित आयोग अपनी भूमिकाओं को बेहतर तरीके से निभा सके इसके लिये आयोगों के अध्यक्षों को मंत्री-परिषद् के सदस्य का दर्जा भी दिया गया है। किन्तु इन सारी प्रक्रियाओं के बाद भी पंचवर्षीय योजनाओं के दस्तावेजों में आदिवासियों की कमजोर सामाजिक-आर्थिक स्थिति का वर्णन और उनके विकास के लिये आबंटित राशि का अनुचित इस्तेमाल सरकारों के काम करने के तरीके के साथ ही आदिवासियों के विकास के लिये गठित किये गये आयोगों की उपादेयता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाता है।

आदिवासियों के विकास को सुनिश्चित करने के लिये गठित किये गये आयोगों के कार्य-कलाप यह दिखाते हैं कि आदिवासियों के सामाजिक-आर्थिक विकास से जुड़ी योजनाओं की पूरी जानकारी न होने के कारण आयोगों के अध्यक्ष और सदस्य इन योजनाओं की बेहतर तरीके से देख-रेख नहीं कर पा रहे हैं। विभिन्न राज्यों के आदिवासी उप-योजना से संबंधित वित्तीय आँकड़ों को देखा जाय तो पता चलता है कि राज्यों के द्वारा योजना में तय की राशि का 40 से 70 प्रतिशत तक की राशि का इस्तेमाल ही नहीं



किया गया है। इसी प्रकार कुछ राज्य सरकारों ने इस योजनाओं के लिये आवंटित राशि का उपयोग ऐसे कामों में कर दिया जिससे आदिवासियों को प्रत्यक्ष रूप से कोई लाभ नहीं मिला। महात्मा गाँधी ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना को ही उदाहरण के रूप में लिया जाय तो उनके राज्यों के आँकड़े यह दिखाते हैं कि आदिवासी बाहुल्य इलाकों में यह योजना स्थानीय आदिवासियों को उनकी जरूरत के समय रोजगार को उपलब्ध कराकर आदिवासियों का पलायन रोकने में विफल रही है। आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में वन अधिकार अधिनियम और अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायत विस्तार अधिनियम (पेसा अधिनियम) को लागू कराने में भी इन आयोगों की भूमिका अभी तक नगण्य ही रही है। इसी प्रकार सर्व शिक्षा अभियान का लाभ भी अनुसूचित जनजाति बालिका-बालिकाओं को दिलवाने में आयोग कितने सफल हो पा रहे हैं, यह भी संदेह के दायरे में है। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि अनुसूचित जनजाति आयोग अपने क्रियाकलापों के बारे में समुदाय के उन लोगों को ही बताने में विफल रहे हैं जिनके विकास के लिये गठन किया गया है।

कई राज्यों के आयोग तो कर्मचारियों और वित्तीय संसाधनों का रोना रोते हुये अपने वार्षिक प्रतिवेदन को तैयार करने में भी असफल रहे हैं। आयोगों के सदस्यों और अध्यक्षों का चयन करने में होने वाले देरी और इन पदों पर पूर्णतया राजनीतिक रूप से की जाने वाली नियुक्तियों ने आयोगों की महत्ता को घटाने का ही काम किया है। आयोगों की अपनी स्वयं की कार्यप्रणाली बहुत पारदर्शी नहीं है और यही कारण है कि न तो ये आयोगी सही प्रकार की जानकारी इकट्ठी कर पाते हैं और न ही माँगे जाने पर लोगों को सही प्रकार की जानकारी उपलब्ध करा पाते हैं। उनकी यही कमी राज्य के एक बड़े हिस्से के लोगों के विकास के लिये तय किये गये वित्तीय संसाधनों के अनुचित इस्तेमाल हो जाने पर भी उनके शांत बने रहने का कारण बन जाती है। इतना ही नहीं लगभग 23 प्रतिशत अनुसूचित

जनजाति की आबादी वाले ओडिसा जैसे राज्य तो अभी तक राज्य में अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन भी नहीं कर पाये हैं।

इन परिस्थितियों में देश के आदिवासियों के विकास की जिम्मेदारी यदि केन्द्र और राज्यों के स्तर पर अनुसूचित जनजाति आयोग नहीं निभा पर रहे हैं तो ऐसे में उनकी उपादेयता को बढ़ाने के लिये कुछ ठोस उपायों को किये जाने की जरूरत है। सबसे पहले तो यह जरूरी है कि ऐसे सभी राज्य जहां आदिवासियों की आबादी राज्य की कुल जनसंख्या के 2 प्रतिशत से अधिक हो वहां अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन अनिवार्य किया जाय। इसी प्रकार इन आयोगों में अध्यक्षों और सदस्यों में से कम से कम 50 प्रतिशत पर महिलाओं के लिये अनिवार्य किये जायें। आयोगों में ऐसे दक्ष लोगों की नियुक्ति की जाय जो आदिवासी विकास से संबंधित शोध करने में सक्षम हों। आयोग को इस बात के लिये पाबंद किया जाय कि क्रियाकलापों का वार्षिक प्रतिवेदन तैयार कराकर राज्य सरकार को उपलब्ध कराया जाय और इसकी जिम्मेदारी आयोग के सचिव को दी जाय। हाल ही देश के विभिन्न हिस्सों में आदिवासियों के शोषण की जो घटनायें सामने आ रही हैं उनको ध्यान में रखते हुये आदिवासियों के विकास के लिये आयोगों को गठित करना और उन्हें और सशक्त करना अति-आवश्यक है। आदिवासियों के विकास के लिये उपलब्ध वित्तीय संसाधन के समुचित उपयोग, विद्यालयों में उनके बच्चों और बच्चियों के बेहतर शिक्षा अर्जन, स्थानीय स्तर पर रोजगार के बेहतर अवसर, स्थानीय स्वशासन में वास्तविक भागीदारी और जंगल तथा जमीन पर आदिवासियों के मालिकाना हक को सुनिश्चित कराने के लिये अनुसूचित जनजाति आयोगों को सशक्त करना वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण जरूरत है।

(लेखक पार्टिसिपेटरी रिसर्च इन एशिया,
नई दिल्ली में वरिष्ठ प्रबंधक हैं)

साभार : देशबंधु





नदियों को अविटल बहने दिया जाए

• सुरेश बाबू

- जल को साझा संसाधन समझने की आवश्यकता है। समुदायों, प्रकृति और उद्योगों का सम्मिलित संसाधन। यह मसला एकल स्तर पर हल नहीं हो सकता।
- भारत को अपने जल-प्रशासन की नीति में बड़ा बदलाव लाना होगा। इसके आगे के काम के लिए सभी भागीदारों (समुदायों, व्यापारिक, पंचायती राज समेत सरकार) को एक मंच पर विचार करना होगा और जल प्रबंधन तथा स्थानीय स्तर-तालाब, उप-बेसिन और बेसिन स्तर पर जल के आवंटन को लेकर सहयोग करना होगा।

शु लाहाबाद में संगम तट पर पिछले महीने पूर्ण हुआ महाकुंभ पावन गंगा के प्रति आम भारतीयों की आस्था और प्रेम को दोहरा गया। कहते हैं 55 दिनों के दौरान कोई 20 करोड़ श्रद्धालुओं ने गंगा में डुबकी लगाई। महाकुंभ इसके लेखा-जोखा का महाअवसर होता है कि नदियों के समुचित रख-रखाव के लिहाज से क्या कमी रह गई है और उसे दूर करने के लिए कैसी कार्यनीति और अमल की आवश्यकता है। गंगा 50 करोड़ की सघन आबादी की जीवनरेखा है, जो उसके पीने का पानी, घरेलू जरूरतें, खेती-बाड़ी, रोजी-रोटी, उद्योग धंधे, मछली पालन, नौकावहन, आमोद-प्रमोद, धार्मिक, सांस्कृतिक गतिविधियों और ऊर्जा जैसी आवश्यकताएं पूरा करती है। मानव के अलावा, गंगा व सहायक नदियां लुप्तप्रायः डाल्फिन, कम से कम नौ जलचर स्तनपायी, सरीसृप (घड़ियालों की तीन प्रजातियों समेत चेतावनी देने वाली छिपकली, जो दक्षिण एशिया में पाई जाती है), मछलियों और कछुओं के साथ अनेक जीव-जंतुओं की पालनहार भी है।

नदी को अबाध बहने देने की आवश्यकता है, ताकि वह अपने पर निर्भर आबादी और जीव-जंतुओं की सहायता कर सके। लेकिन गंगा की स्थिति अच्छी नहीं है। इसके तट पर बने बांध और बैराजों के चलते इसके पाट क्षीण होते गए हैं। मैदान में गंगा के प्रवेश के पहले ही उसके 60 फीसद पानी का रुख इधर उधर मोड़ दिया जाता है। इस नदी में प्रत्येक दिन 12 बिलियन लीटर प्रदूषित पानी डाला जाता है, जिसमें 70 फीसदी की सफाई नहीं हो पाती है। बहाव में मोड़ लाकर नदी की गति बदलती रही है, इसलिए उसमें ताजा जल प्रवाह घट गया है, फलस्वरूप नदियों में मिलने की उसकी क्षमता भी कम हो गई है। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा 2007 में किए गए अध्ययन में यह बात आई कि प्रदूषित नदियों के जल में अकेले गंगा का योगदान 40 फीसदी है। उपभोग की बदलती पद्धति, बढ़ते शहर, उद्योग और कृषि के चलते गंगा और उसकी पारिस्थितिकी दुस्थितियों में ही इजाफा करेगी। यही कहानी देश की कई अन्य नदियों की भी है।



इससे बचाव के उपाय क्या हैं? नदी संरक्षण के मौजूदा कार्यक्रम अधिकतर सीवेज और औद्योगिक कचरे का प्रबंधन है। नदी की समूची पारिस्थितिकी को ध्यान में रख कर समाधान की कोशिश नहीं होती। आज नदियां जिस संकट का सामना कर रही हैं, उन्हें देखते हुए उनकी सेहत में सब तरह से सुधार के लिए पर्यावरणीय प्रवाह (ई-प्रवाह) अमल में लाने पर गौर करना जरूरी है। नदियों की समूची पारिस्थितिकी के रख-रखाव, उसकी सहायक पारिस्थितिकी और वस्तुओं तथा सेवाएं प्रदान करने वाले प्रमुख कारक के रूप में ई-प्रवाह की पहचान जोर पकड़ रही है। ई-प्रवाह के आकलन का मतलब मात्रा, गुणवत्ता और प्रवाह के उसके तरीके (समय के अनुपात में) की पहचान के साथ नदी की लम्बाई और उपयोग तथा प्राकृतिक जल संसाधन को लोगों व जैव विविधता की खातिर संरक्षण के बीच संतुलन प्रदान करना है। यह महत्वपूर्ण है कि ई-प्रवाह बहुआयामी है तथा इसका आकलन सामाजिक और तकनीकी प्रक्रिया दोनों है। सामाजिक रूप में यह इस पर निर्भर करता है कि समाज अपने लिए नदी से कैसी अपेक्षा करता है-सांस्कृतिक व अध्यात्मिक समर्थन या आजीविका या जैव विविधता या ये सारे काम या इनसे भी ज्यादा। जलविज्ञान, जलगतिविज्ञान, भू-आकृतिविज्ञान (इसके अंतर्गत भूमि और चट्टानों की विशेषता और बनावट का अध्ययन होता है) के विस्तार से अध्ययन के लिए बहुआयामी तकनीकी प्रक्रिया की जरूरत पड़ेगी। गंगा के ऊपरी बेसिन में ई-प्रवाह के बारे में डब्ल्यूडब्ल्यूएफ का अध्ययन बताता है कि ऋषिकेश से कानपुर तक गंगा के फैलाव में साल में कम से आठ महीने भी पर्याप्त बहाव नहीं रहता।

एक राष्ट्र के रूप में नदियों के मूल और अबाध बहाव के संरक्षण की यात्रा की शुरुआत की आवश्यकता है। इसे वरीयता देने के लिए इसे शून्य सहनशीलता क्षेत्र घोषित करना चाहिए। हमें अपनी नदियों के पर्यावरणीय प्रवाहों को थाहने की आवश्यकता है, जिन्हें बांध और बैराज बना-बना कर जगह-जगह से मरोड़ दिया गया है।



नदी संरक्षण के मौजूदा कार्यक्रम अधिकतर सीवेज और औद्योगिक कचरे का प्रबंधन है। नदी की समूची पारिस्थितिकी को ध्यान में रख कर समाधान की कोशिश नहीं होती। आज नदियां जिस संकट का सामना कर रही हैं, उन्हें देखते हुए उनकी सेहत में सब तरह से सुधार के लिए पर्यावरणीय प्रवाह (ई-प्रवाह) अमल में लाने पर गौर करना जरूरी है।



देश और राज्य स्तर पर हमें 'पर्यावरण रक्षण' नीति के तहत नदियों और उनकी पारिस्थितिकी के लिए पर्याप्त जल छोड़ने की जरूरत है। ई-प्रवाह और उसका पारिस्थितिकी, पर्यावरण और समाज से जुड़ाव अहम हैं। इस दिशा में सबसे अहम जरूरत है, कि ई-प्रवाह पर असमझौतावादी रुख अपनाया जाए और पारिस्थितिकी को प्राथमिक जल उपयोगकर्ता माना जाए। खेती के क्षेत्र में भी पानी के बेहतर प्रबंधन को बढ़ावा देने की जरूरत है। देश में ऐसे मॉडल मौजूद हैं, जहां लोगों ने सतत खेती और पानी के इंतजाम के जरिये उत्पादकता बढ़ायी है। इसे गंगा प्रबंधन योजना का अभिन्न अंग बनाने की जरूरत है।

उद्योग क्षेत्र में, 2005 तक पानी की मांग 283 फीसद बढ़ जाएगी। मार्च में जारी रिपोर्ट के मुताबिक डब्ल्यूडब्ल्यूएफ, भारत में उद्योगों के लिए आने वाले समय



में पानी से जुड़ा जोखिम महसूस कर रहा है, लेकिन सम्पूर्णता में इसे नजर अंदाज भी कर रहा है। इससे जुड़ी तमाम गतिविधियों के जोखिम को प्रमुखता से नहीं समझा गया है, और सबसे बढ़कर यह कि जल साझा संसाधन है, इसलिए यह साझी समस्या है, यह भाव गायब है। परिणामस्वरूप जोखिम मिटाने वाली कार्यनीतियां अभी शुरुआती अवस्था में ही हैं- इनमें ज्यादातर आंतरिक और आल्पकालीन है। यह अच्छी है कि कई कंपनियां पानी का संरक्षण कर रही हैं और गंदे जल को फिर साफ कर रही हैं। लेकिन यह अल्पकालीन हल है जो दीर्घकालीन जल संकट से उद्योगों को बचा नहीं पाएगा। वहीं यह बेसिन में लगे उद्योगों के लिए और खतरा बढ़ाएगा।

इसलिए जल को साझा संसाधन समझने की आवश्यकता है। समुदायों, प्रकृति और उद्योगों का सम्मिलित संसाधन। सरकार और समुदाय की समानता और पारिस्थितिकीय सेहत में दिलचस्पी है तो उद्योगों को चिंता है कि उनके कामकाज के लिए पानी की उपलब्धता बनी रहे। यह मसला एकल स्तर पर हल नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, भारत को अपने जल-प्रशासन की नीति में बड़ा बदलाव लाना होगा। इसके आगे के काम के लिए सभी भागीदारों (समुदायों, व्यापारिक, पंचायती राज समेत सरकार) को एक मंच पर विचार करना होगा और जल प्रबंधन तथा स्थानीय स्तर-तालाब, उप-बेसिन और बेसिन स्तर पर जल आवंटन को लेकर सहयोग करना होगा। ये काम पारदर्शी तरीके से करने की आवश्यकता है। सरकार और वित्तीय संस्थाओं को उन सहयोगी प्रयासों के प्रोत्साहकों की भूमिका निभाने की जरूरत होगी।

शहरों को जल की बरबादी रोकनी होगी। सीवेज प्रबंधन से अनभिज्ञता नहीं चलेगी। शहरी जल आपूर्ति में रिसाव की काट ढूंढनी होगी। दिल्ली आपूर्ति में रिसाव की काट ढूंढनी होगी। दिल्ली जैसे महानगर को गंगा-यमुना के

जल पर ही निर्भर नहीं होना चाहिए। नगरों को बरसाती पानी का संरक्षण करना होगा और जलापूर्ति पर बढ़ती लागत कम करने के लिए जल प्रणाली का विकेंद्रीकरण कर आत्मनिर्भर होना होगा। घरेलू सीवेज जल संशोधन और पुर्नउपयोग का स्थानीय हल भी ढूंढा जाए। घरों को पानी सक्षम बनाने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। इसे बढ़ावा देने के लिए सरकार और इसकी शहरी विकास कार्यक्रम को आमूल बदलने की जरूरत होगी। जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवीनीकरण मिशन को पाइपों के निर्माण और जल संशोधन संयंत्र तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। इसे जल, बरबाद जल और प्रदूषण प्रबंधन के प्रति हमोर व्यवहार में महत्वपूर्ण बदलाव लाने के अवसर के रूप में भी काम करना चाहिए।

नदियों और जल संरक्षण में नागरिकों को सहभागी बनाने की जरूरत है। अभी उप-नदी घाटी और नदी घाटी के प्रबंधन में नागरिकों को जोड़ने की कोई नीति नहीं है। स्तरीय और वास्तविक जागरुकता के लिए भागीदारी को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही, संसाधनों के आकलन, योजना, क्रियान्वयन और निगरानी में संलग्नता की जरूरत है। नदियों से लोगों को फिर से जोड़ने का यह सही वक्त है। गंगोत्री से गंगासागर तक लोग नदी को उसका जीवन देने के लिए बरकरार हैं। हमें और सरकार को नदी संरक्षण कार्यनीति बनाने की दिशा में प्रेरित होना चाहिए। एक राष्ट्र के रूप में हमें नदियों में ताजा जल प्रवाह सुनिश्चित करने वाली नीतियां तुरंत लागू करनी होंगी। अभी देर नहीं हुई है लेकिन आगे विलंब घातक होगा। उम्मीद बनी है कि नदियों को उनकी जिंदगी दी जा सकती है।

*लेखक डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ., इण्डिया में नदी घाटियों
और जल नीति निदेशक हैं।
साभार- राष्ट्रीय सहारा*





शहर-सेहत बरबाद करतीं कारें

● प्रफुल्ल बिदवई

- हम दक्षिण एशियाइयों को भी इसी तरह के उपायों को तत्काल अमल में लाने की आवश्यकता है-एसयूवी और डीजल से चलने वाली कारों पर तो पूरी तरह प्रतिबंध लगा देना चाहिए। हमें प्रदूषण जांच प्रक्रिया को कड़ाई से लागू करना चाहिए।
- सर्वाधिक सक्षम समाधान तो होगा कि शहरों की मौजूदा सड़कों पर तेजी से सार्वजनिक बसें चलाई जाएं, बिजली से चलने वाली ट्रॉली बसें (और जहां संभव हो, वहां ट्राम) चलाने के साथ लोगों की साइकिल से तथा पैदल चलने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

यह कम विडम्बनापूर्ण नहीं है कि विगत पांच सालों में भारत में कारों की बिक्री दोगुना इजाफा हुआ है जबकि रोजगार के क्षेत्र और राष्ट्रीय आय में उसका हिस्सा मामूली होता जा रहा है बल्कि उत्तरोत्तर घटता गया है। उच्च-मध्य वर्ग के भोग-विलास और निजी आवाजाही के लिए अभिजात्य-संसाधन और कारों के प्रति जबदस्त आकर्षण के चलते ऑटोमोबाइल विनिर्माण क्षेत्र आज देश का तेजी से विकास करता हुआ उद्योग बन गया है। मोटर वाहनों के प्रति हृद दीवानगी यह सुनिश्चित करेगी कि कारों की बिक्री में मौजूदा छह फीसदी की गिरावट, हालांकि ऐसा एक दशक में पहली बार हुआ है, की यह स्थिति बस थोड़े समय के लिए है, और जल्द ही इसमें बदलाव होगा। उपयोगी वाहनों की बिक्री में 52 फीसदी वृद्धि हुई है, जिनमें अधिकतर स्पोर्ट्स उपयोगी वाहन (सुव) हैं, वह कारों की बिक्री में गिरावट की भरपाई अच्छी तरह से कर देगा। सुव गैस गटकते हैं, सड़क हथियाने वाले दैत्याकार हैं जो ट्रक की तरह गैस-उत्सर्जन करते हैं। चूंकि वह खास तौर से डीजल

पर ही चलते हैं, लिहाजा उनसे उत्सर्जित गैस पेट्रोल से ज्यादा हानिकारक होता है। भारत विश्व में सुव का दूसरा सबसे बड़ा उभरता बाजार है। यहां डीजल की कीमत पेट्रोल से कम है। इसके फलस्वरूप 55 फीसद कारें डीजल पर चलती हैं, जबकि 2002 में इसकी तादाद 10 फीसद से भी कम थी।

इस कारण और निजी वाहनों के द्रुत प्रसार, जो शहरी आबादी की 60 फीसदी से भी ज्यादा है, की वजह से अधिकतर शहरों में आरएसपीएस पर निर्भरता और नाइट्रोजन के ऑक्साइड और सल्फर का उपयोग तेजी से बढ़ा है। एक सर्वे से पता चलता है कि देश में 199 में से 188 शहरों में प्रदूषण की निर्धारित मात्रा में वृद्धि पाई गई है। मुंबई, दिल्ली और कोलकत्ता जैसे महानगरों में नहीं बल्कि सूरत, फरीदाबाद, अलवर, मेरठ और नगांव में आरएसपीएस का निर्धारित स्तर प्रति क्यूबिक मीटर 60 माइक्रोग्राम से ज्यादा है। छोटे शहरों में सल्फर और नाइट्रोजन ऑक्साइड जनित प्रदूषण की मात्रा में भी बढ़ोतरी हुई है।



जहां तक दिल्ली की बात है, तो उसकी बसें, टैक्सी और ऑटो रिक्शा 2002 से ही सीएनजी ईंधन का इस्तेमाल कर रहे हैं। लेकिन इसके जरिये पर्यावरण को साफ-स्वच्छ बनाने के फायदे को शहर में वाहनों की बढ़ती भीड़ नुकसान में बदल लेती है। दिल्ली में आरएसपीएम का मौजूदा स्तर (261 माइक्रोग्राम) सीएनजी लागू होने के पहले की तुलना में सबसे बुरा है। शहरी भारत तो प्रदूषित हवा में ही सांस ले रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की 'रोगों का वैश्विक भार' की ताजा रिपोर्ट में स्थिति को 'अत्यंत गंभीर' बताया गया है। इसके मुताबिक वायु प्रदूषण भारत में होने वाली मौतों की वजहों में पांचवीं सबसे बड़ी वजह है।

वायु प्रदूषण कैंसर, शुगर, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप और बच्चों में सांस संबंधी एलर्जी समेत कई बीमारियों/गड़बड़ियों का कारण है या उन्हें और बढ़ा देता है। इसके साथ, अपंगता-जनित बीमारियां होने से रोजगार का नुकसान होता है, लोगों में तनाव बढ़ता है, फ्लोईओवरों और कार पार्किंग से नगर का विद्वेष सौंदर्य, सड़क दुर्घटनाओं से मौतें, पैदल और साइकिल सवारों में भयंकर असुरक्षाबोध को मोटरवाहनों के भयानक दुष्प्रभाव के रूप में देख जा सकता है। कारें, यहां तक कि ठहरी कारें भी, सड़कों पर बहुत ज्यादा जगह छेकती हैं। उसमें अक्सर दो लोग चलते हैं, लेकिन वह बस की एक तिहाई से ज्यादा जगह छेकती है, जिससे आमतौर पर 40 से 60 लोग सफर करते हैं। कारें सकल परिवहन के प्रकारों से महज 10 फीसद कम हैं, लेकिन वह सड़कों की तीन-चौथाई जगह घेरती हैं। देश के कई शहरों में साइकिल सवार भी चलते हैं, लेकिन एक तो उनकी तादाद कम है जिस पर उनके लिए सड़कों पर मुफ़ीद जगह नहीं है और उनकी जान पर जोखिम भी बहुत है।

सार्वजनिक स्थानों में कार पार्किंग देश का सबसे बड़ा स्कैंडल है। अगर कार मालिकों को मुख्य व्यावसायिक जिलों की मुख्य जगहों में पार्किंग दर का भुगतान बाजार दर से करना पड़े, जहां की जमीन के दाम लाखों रुपये वर्गफीट है, तो बहुत-से लोग कार चलाने से ही बाज आने लगेंगे। हालांकि अनेक शहरों में कार पार्किंग हास्यास्पद



वायु प्रदूषण कैंसर, शुगर, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप और बच्चों में सांस संबंधी एलर्जी समेत कई बीमारियों/गड़बड़ियों का कारण है या उन्हें और बढ़ा देता है। इसके साथ, अपंगता-जनित बीमारियां होने से रोजगार का नुकसान होता है, लोगों में तनाव बढ़ता है, फ्लोईओवरों और कार पार्किंग से नगर का विद्वेष सौंदर्य, सड़क दुर्घटनाओं से मौतें, पैदल और साइकिल सवारों में भयंकर असुरक्षाबोध को मोटरवाहनों के भयानक दुष्प्रभाव के रूप में देख जा सकता है।



रूप से कम है। यहां के रिहायशी इलाकों में कार मालिक बड़ी छिटाई से सड़कों का निजीकरण कर लेते हैं, यहां तक कि पेवमेंट का भी। यह तो सरासर जुर्म है। अन्य अर्थों में भी कारें सामाजिक रूप से पक्षपाती हैं। शहरी-संरचना में सार्वजनिक राजस्व का एक बड़ा हिस्सा मोटर परिववाहनों को सुचारु चलाने के लिए सड़कों को चौड़ा करने, पुलें बनवाने और प्लाईओवरों के निर्माण में खर्च होता है। ये कारें 30 से 50 फीसद यातायात की गति धीमी कर देती हैं, विशेषकर सार्वजनिक बसों की इस वजह से सवारियां अपने गंतव्य पर लेट पहुंचती हैं और समाज का अमूल्य समय नष्ट होता है। कारें अभिजात्य संस्कृति का हिस्सा हो गई हैं और गति व ताकत की प्रतीक होने के साथ जो लोगों में अपने प्रति आदर-भाव और डर पैदा करती हैं। भारतीय



मध्यवर्ग अब मारुति-800 जैसी छोटी कार से संतुष्ट नहीं रहा। वह बड़ी और ज्यादा से ज्यादा आरामदेह कारें चाहता है। मध्य-आकार की कारें अब भारत के शीर्ष-उत्पादन का उप क्षेत्र बन गई हैं। कारें धन का आडम्बरपूर्ण और मर्दाना आक्रामकता का प्रदर्शन करती हैं। खास तरह के कार मालिकान में पैदलयात्रियों के प्रति तिरस्कार का भाव होता है, वह उन्हें दहशत में रखते हैं। इस तरह, कारें क्रूरता और मानवद्वेष को बढ़ावा देती हैं।

औद्योगिक रूप से उन्नत अनेक देशों के समाज मोटराइजेशन से हलकान होकर अब पछतावा कर रहे हैं, नगर के प्रमुख केन्द्रों तक कारें ले जाने को प्रतिबंधित कर रहे हैं, उन पर भारी कर लगा रहे हैं, पार्किंग और कंजेशन चार्ज ज्यादा (सेंट्रल लंदन में हर एंट्री पर आठ पौंड) लगा रहे हैं। वे सार्वजनिक परिवहन को भी बढ़ावा देने के साथ बसों व साइकिलों के लिए अलग-अलग मार्ग तय कर रही है। यूरोप के अनेक देशों में तो सड़कों पर लोगों के समान अधिकार के लिए बाकायदा मुहिम चल पड़ी है। यहां तक शंघाई, पेइचिंग और गुआनझाउ में हरेक साल कार लाइसेंसों को सीमित किया जा रहा है। सिंगापुर में आपको कार तक तक खरीदने की इजाजत नहीं मिलेगी, जब तक कि आपके पास पार्किंग की जगह न हो। इस पर भी, आप हफ्ते में एक दिन के अंतर पर ही कार लेकर निकल सकते हैं।

हम दक्षिण एशियाइयों को भी इसी तरह के उपायों को तत्कालन अमल में लाने की आवश्यकता है-एसयूवी और डीजल से चलने वाली कारों पर तो पूरी तरह प्रतिबंध लगाना देना चाहिए। हमें प्रदूषण जांच प्रक्रिया को कड़ाई से लागू करना चाहिए। इसका मतलब अनुमति प्रदान करने वाली स्थिति को खत्म करना होगा, जिसमें 70 लाख वाहनों के प्रदूषण की जांच के लिए मात्र 120 निरीक्षक हैं। सबसे बढ़कर हमें वहनीय, सुरक्षित, पर्याप्त सार्वजनिक परिवहन की जरूरत है। इसका हल मेट्रो रेल नहीं है, क्योंकि यह बहुत महंगा है (एक किलोमीटर लाइन बिछाने में 200 से 500 करोड़ रुपये का खर्च आता है) खासकर पहले से बनी-बनाई कॉलोनियों होकर इसे चलाने में तो

और भी लागत बढ़ जाती है। वहनीयता के लिए, मेट्रो को हरेक घंटे हरेक दिशा में हरेक बार 20,000-40,000 यात्रियों को ढोने की आवश्यकता होगी, इतनी सवारियां तो हमारे कम ही बड़े शहरों में उपलब्ध हो सकती है। अतः जापान, एशिया विकास बैंक और केन्द्र व दिल्ली सरकारों की बड़ी और अब तक जारी वित्तीय सहायताओं के बावजूद दिल्ली मेट्रो गरीब वर्ग के लिए बस की तुलना में खर्चीला है।

मनमोहक साज-सज्जा और एअरकंडीशिंग के साथ, यह मध्यवर्ग का लाइला बन गया है लेकिन इसके फेरे बढ़ाने के बावजूद कारों की संख्या नहीं घटी है। इससे सड़कों पर उसी तरह यातायात थम रहता है। भारतीय निर्मित मेट्रो को छोटे शहरों तक ले जाने की बेवकूफी कर रहे हैं। यह वहां के लिए सफेद हाथी साबित होगी। सर्वाधिक सक्षम समाधान तो होगा कि शहरों की मौजूदा सड़कों पर तेजी से सार्वजनिक बसें चलाई जाएं, बिजली से चलने वाली ट्रॉली बसें (और जहां संभव हो, वहां ट्राम) चलाने के साथ लोगों की साइकिल से तथा पैदल चलने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। ऐसा करने का मतलब होगा-शहरी जीवन को पुनर्संयोजित करना, बार-बार की आवाजाही को सीमित करना, भिन्न दिशाओं में जाने वाले वाहनों के बदलाव के लिए जगह-जगह अड्डे बनाना और पैदल यात्रियों के लिए चौक बनाना। बीआरटी की अवधारणा सड़कों पर बसों के लिए जगह आरक्षित करने की है, जिसके फेरों का मोटा अनुपात 60 फीसद बैठता है। इसके साथ, अन्य यातायात को निर्धारित करने का है। बीआरटी कॉरिडोर की योजना दिल्ली में 26 मार्गों समेत अनेक शहरों में बनाई गई है। लेकिन इनमें से कुछ ही मार्गों पर इनका क्रियान्वयन हो पाया है। दिल्ली की बीआरटी कार लॉबी के दुष्टतापूर्ण हमलों का सामना करता है। ट्रैफिक मॉर्शल की तैनाती न होने से यह अप्रभावी हो गया है। यह नहीं होना चाहिए। मोटर सवार सार्वजनिक प्राथमिकताओं का आदर अवश्य करें।

साभार : राष्ट्रीय सहारा





शिक्षा के अधिकार में रुकावटें

शिक्षा का अधिकार कानून लागू करने में दिक्कतें दो स्तर पर हैं, एक अधोसंरचना की कमी और दूसरा शिक्षा में गुणवत्ता का अभाव। जब भी शिक्षा का अधिकार कानून की बात होती है, तो ज्यादातर अधोसंरचना में कमी का रोना लेकर बैठ जाते हैं। यह समझना होगा कि जिन 40 प्रतिशत स्कूलों में पर्याप्त शिक्षक नहीं है, या जिन 33 फीसदी स्कूलों में लड़कियों के लिए शौचालय की व्यवस्था नहीं है या फिर उन 39 प्रतिशत स्कूलों में जहां निःशक्त बच्चों के लिए रैम्प का निर्माण नहीं हुआ है, वहां पर भी बच्चे पढ़ रहे हैं। स्वच्छ पेयजल, खेल के मैदान, शौचालय, बिजली, पक्की इमारत यह सब जरूरी हैं, लेकिन इन तमाम व्यवस्थाओं के बावजूद अगर बच्चों को गुणवत्तायुक्त शिक्षा नहीं मिल पा रही है तो सब व्यर्थ है।

देश में 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा मिल चुका है 2002 में 86वां संशोधन कर शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया जा चुका है, लेकिन इस कानून को जमीन पर उतारते सात वर्ष लग गए। 2009 में शिक्षा का अधिकार कानून लागू होने के बाद सभी राज्यों को इसे अमल में लाने के लिए 31 मार्च 2013 की तारीख तय की गई थी। आज हम मियाद खत्म हो गई है और अभी भी देश के अधिकांश राज्यों में इस कानून को अमल में लाने की तैयारी पूरी तरह नहीं हो सकी है। राज्यों की तैयारी पूरी तरह नहीं हो सकी है। राज्यों की तैयारी की बात करें तो इसकी गंभीरता यह है कि अगर 6 से 14 साल तक कोई बच्चा एक निर्धारित व्यवस्था के तहत शिक्षा नहीं ले पा रहा है, तो वह अपने मौलिक अधिकार के हनन का मामला मान सीधे सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दाखिल कर सकता है। इस बात को समझते हुए सभी राज्य इस कानून को आधा अधूरा लागू करने के मूड में नहीं दिखते।

कल दिल्ली में कैब की बैठक हो रही है, जिसमें सभी राज्यों के प्रतिनिधि हिस्सा लेंगे। संभव है बैठक में शिक्षा अधिकार कानून लागू करने की मियाद बढ़ाने की मांग हो। हो सकता है, यह बढ़ भी जाए। यह समझना होगा कि शिक्षा का अधिकार कानून लागू करना देश के लिए बहुत बड़ा फैसला है। इसका महत्व न केवल सामाजिक बल्कि आर्थिक स्तर पर भी बहुत ज्यादा है। इसलिए यह मान लेना कि पूरी तैयारी के साथ इस कानून को लागू करें, सही नहीं होगा। छोटी-मोटी कमी हो सकती है, जिसे समय के साथ ठीक किया जा सकता है।

शिक्षा का अधिकार कानून लागू करने में दिक्कतें दो स्तर पर हैं, एक अधोसंरचना की कमी और दूसरा शिक्षा में गुणवत्ता का अभाव। जब भी शिक्षा का अधिकार कानून की बात होती है, तो ज्यादातर अधोसंरचना में कमी का रोना लेकर बैठ जाते हैं। यह समझना होगा कि जिन 40 प्रतिशत स्कूलों में पर्याप्त शिक्षक नहीं है, या जिन 33 फीसदी स्कूलों में लड़कियों के लिए शौचालय की व्यवस्था



नहीं हैं या फिर उन 39 प्रतिशत स्कूलों में जहां निःशक्त बच्चों के लिए रैम्प का निर्माण नहीं हुआ है, वहां पर भी बच्चे पढ़ रहे हैं। स्वच्छ पेयजल, खेल के मैदान, शौचालय, बिजली, पक्की इमारत यह सब जरूरी हैं, लेकिन इन तमाम व्यवस्थाओं के बावजूद अगर बच्चों को गुणवत्तायुक्त शिक्षा नहीं मिल पा रही है तो सब व्यर्थ है। इसलिए स्कूलों में अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा बच्चों को मिल सके, सरकारों के लिए यह प्राथमिकता में होना चाहिए। साथ-साथ यह भी समझना होगा कि जब अच्छी शिक्षा स्कूलों में मिलेगी तो छात्र हो या पालक स्कूल की छोटी-मोटी कमियों पर ध्यान नहीं देंगे। जब हम स्कूल में गुणवत्तायुक्त शिक्षा की बात करते हैं, तो मापदण्ड वहां से पढ़कर निकले बच्चों का इंजीनियर, डॉक्टर और शासकीय अधिकार बनने की संख्या से तय किए जाते हैं। आज समाज को अच्छे शिक्षक की भी जरूरत है। चाहे वह प्रौद्योगिकी संस्थानों में हो, प्रबंधकीय संस्थाओं में या फिर प्राथमिक शालाओं में।

देश में स्कूल स्तर पर अभी भी 11 लाख शिक्षकों की कमी है। केन्द्र सरकार ने शिक्षक नियुक्त करने के जो मानक तय किए हैं, उसे पूरा करने में भी मुश्किल हो रही है। एक व्यक्ति जब स्नातक या स्नातकोत्तर की डिग्री लेकर

विश्वविद्यालय से बाहर निकलता है, तो उसे प्राथमिक और माध्यमिक शालाओं तक के विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए क्षमतावान मानना चाहिए लेकिन बीएड की डिग्री अथवा योग्यता को निर्धारित मापदण्ड मान लिया जाता है तो फिर यह नया व्यवसाय-व्यापार को जन्म देता है। शिक्षक बनने के लिए बीएड की अनिवार्यता ने देश में हजारों निजी शालाओं में बीएड की डिग्री कोर्स की शुरुआत कर दी। सवाल यह कि इतनी संख्या में बीएड पढ़ाने के लिए शिक्षक कहां से मिलेंगे? फिर किसी तरह साल भर पाठ्यक्रम चलाकर बीएड की डिग्री दे देना ही संख्या का लक्ष्य हो जाता है। इसके एवज में फिर हजारों-लाखों रुपए फीस वसूल की जाती है। इस तरह अर्हता को प्राप्त नहीं कर पाते। यह देखना होगा कि शिक्षण भी एक कला है, इसके लिए डिग्री जरूरी नहीं, बल्कि कुछ गुणों की जरूरत होती है। इसलिए अगर शिक्षा में गुणवत्ता बढ़ानी है तो स्कूलों में शिक्षकों की भर्ती प्रक्रिया पर पुनर्विचार करना होगा। साथ-साथ शिक्षा के अधिकार कानून को लागू करने के साथ-साथ उच्च शिक्षा में भी गुणवत्ता को सुधारने की जरूरत है।

साभार : संपादकीय, देशबंधु (01.04.2013)



“We still do not know one thousandth of one percent of what nature has revealed to us.”

-Albert Einstein



“Force always attracts men of low morality.”

-Albert Einstein





नैतिक मूल्यों में गिरावट

● एन.के. सिंह

अपराधों पर अंकुश लगाने के लिए कानून का खौफ और नैतिक शिक्षा दोनों को जरूरी हैं।

भा रतीय समाज में सबसे बड़ा भ्रम-द्वंद्व चल रहा है। एक भारत है जिसमें अशिक्षा, अज्ञानता, गरीबी, आतार्किकता और इन सबसे पैदा हुआ मनोविकार सामाजिक व्याधि का भयंकर रूप ले रहा है और दूसरी और उन्मुक्तता की बयार के तहत नारी स्वतंत्रता से उद्भूत तर्क यहां तक आ गया है, कि कम कपड़े पहनने से अगर कामुकता बढ़ती है तो वह देखने वाला का दोष है। जावेद अख्तर ने संसद में पश्चिमी देशों की संस्कृति का हवाला देते हुए सवाल दागा कि वहां के खुलेपन से दुष्कर्म की घटनाएं क्यों नहीं बढ़ती है। उनके तर्क में एक दोष है। जरूरी नहीं बदलाव को हर समाज एक ही भाव से ले। गांव से नौकरी करने आया अशिक्षित युवा अपराध करके जब अपने गांव में किसी रिशतेदार के यहां छिपता है तो उसे लगता है कि अब कोई पकड़ नहीं सकता, क्योंकि जिस शहर में उसने अपराध किया है, वहां शायद ही कुछ लोग उसे पहचानते हैं और बिरले ही उसके घर का पता जानते हैं। उसे नहीं मालूम कि मीडिया, शहरी जानक्रोश और इस तरह के अपराध के प्रति जबर्दस्त प्रतिक्रिया उसे कानून के हवाले कर देगी।

इस समस्या को दो तरह से देखने की जरूरत है। पहला, क्या देश में अपराध न्याय प्रणाली ठीक काम कर रही है? दूसरा, इसका समाधान महज कानून और न्याय व्यवस्था की समस्या मानकर किया जा सकता है या नैतिक-मूल्यों को दोबारा स्थापित करने की जरूरत है? शायद दोनों बात एक साथ अमल में लाने से ही समस्या का निदान संभव है। पिछले 40 सालों में दुष्कर्म के मामले में

सजा की दर 47 प्रतिशत से घटकर 23 प्रतिशत आ गई है। यानी हर चार दुष्कर्म के आरोपियों में से तीन छूट जाते हैं। ध्यान रहे चूंकि भारत में दुष्कर्म को कलंक के रूप में लिया जाता है, इसलिए पीड़ितों में से बहुत कम ही अदालत का दरवाजा खटखटाती हैं। जब चार में तीन दुष्कर्मी छूट जाएंगे तो इन महिलाओं और उनके परिवार की स्थिति समझना मुश्किल नहीं है।

सुप्रीम कोर्ट के कई फैसलों में कहा गया है कि इस किस्म के अपराधों में जजों को अपना नजरिया बदलना होगा। 'तार्किक संदेह से परे दोष-सिद्धि' के सिद्धांत की जगह 'संभाव्यताओं का बाहुल्य' सिद्धांत अपनाना होगा। जस्टिस मलिथम ने बीच का रास्ता सुझाया था 'स्पष्ट और सुगम' सिद्धांत, लेकिन अदालतें आज भी पुराने सिद्धांत पर ही चल रही हैं। नतीजन दुष्कर्म की शिकार महिलाओं और उनके परिवार का भरोसा व्यवस्था से उठ गया है। दिल्ली में हुए घृणित बाल-दुष्कर्म के साथ कुछ और अपराधों पर नजर डालिए। दिल्ली में ही पुलिस के एक कांस्टेबल ने रोज-रोज के झगड़े से तंग आकर गुस्से में पहले अपने पिता को, फिर बचाने आई मां को मारकर बगल के प्लॉट में फेंक दिया। मेरठ के पास एक कस्बे में दो रुपये के लिए एक दुकानदार को एक व्यक्ति ने गोली मार दी। दिल्ली में एक कार दूसरी से आगे निकल गई तो पीछे वाले ने दौड़कर उस कार वाले को रोका और साथियों के साथ मिलकर पिटाई की। बिहार में एक मानसिक रूप से बीमार औरत को डायन मानकर गांववालों ने पत्थरों से मार कर



विज्ञापन में जब एक खास स्प्रे किए युवक के पीछे अर्द्धनग्न युवतियां भागती हैं तो शहर में तथ्य को समझने वाला युवक वह स्प्रे खरीदता है, लेकिन गांव से आया कम जानकारी रखने वाला युवक लड़कियों को 'ऐसी होती हैं यहां की लड़कियां' के भाव से देखने लगता है। तब वह इन्हें 'शिकार' समझ लेता है। दो अलग-अलग समझ व नैतिक व्यवस्था के बीच इस खाई को जल्द पाटना होगा। कानून का खौफ और नैतिक शिक्षा दोनों की जरूरत है। साथ ही इस दो संस्कृतियों के तहत पनपने वाली समझ के बीच की खाई को भी पाटना होगा।



खत्म कर दिया था।

भारतीय समाज बीमार है। यौन हिंसा की घटनाएं अचानक नहीं बढ़ गई हैं, केवल इनका धरातल पर आना और इनके प्रति जागरूकता अचानक बढ़ी है। अपने मां-बाप को मार कर फेंक देने वाले कांस्टेबल को आइपीसी की धारा 302 के बारे में मालूम था। उसे यह भी मालूम था कि बगल के प्लॉट में शवों को फेंकने से वह बच नहीं सकता। दो रुपये के लिए गोली मारने वाला भी जानता था कि गोली की कीमत तीसे रुपये से कम नहीं है। क्या पत्थर

मारने वाले ग्रामीणों को नहीं लगा कि वे गलती कर रहे हैं? अगर सहज की शराब और आसानी से मोबाइल में पोर्न फिल्म डाउनलोड की जा सकती है। तो उसकी परिणति गीता के श्लोक पढ़ने में नहीं होगी। यह बात उन लोगों को भी मालूम होनी चाहिए, जो कड़े कानून बनाने की बात कर रहे हैं। समाज की बीमारी के लिए भी सरकार को दोष देना, राज्य-अधिकरणों को कोसना और कानून दर कानून बनाकर उसका हल खोजना अभिजात्य वर्ग की आदत हो गई है। हर घर में नैतिक शिक्षा की बात और गांधी पैदा करने की सलाह देने का माद्दा न तो राजनीतिक वर्ग में है और न ही इंडिया गेट पर मोमबत्ती जलाने वालों में, क्योंकि तब तो उन्हें खुद को बदलना पड़ेगा। इसका यह मतलब नहीं कि सिस्टम पर दबाव न बनाया जाए और पुलिस को 2000 रुपये देकर मामला दबाने की छूट दे दी जाए। इंडिया गेट पर जो हो रहा है वह बिल्कुल सही है, लेकिन सिर्फ उससे या दुष्कर्मों को फांसी देने के प्रावधान बना देने से समस्या नहीं सुलझ सकती है। एक पुराने आकलन के अनुसार दुनिया में तीन करोड़ तीस लाख कानून हैं और हर साल कुछ हजार कानून और जुड़ जाते हैं पर हत्या, दुष्कर्म या हिंसा की घटनाएं बराबर बढ़ती जाती हैं।

विज्ञापन में जब एक खास स्प्रे किए युवक के पीछे अर्द्धनग्न युवतियां भागती हैं तो शहर में तथ्य को समझने वाला युवक वह स्प्रे खरीदता है, लेकिन गांव से आया कम जानकारी रखने वाला युवक लड़कियों को 'ऐसी होती हैं यहां की लड़कियां' के भाव से देखने लगता है। तब वह इन्हें 'शिकार' समझ लेता है। दो अलग-अलग समझ व नैतिक व्यवस्था के बीच इस खाई को जल्द पाटना होगा। कानून का खौफ और नैतिक शिक्षा दोनों की जरूरत है। साथ ही इस दो संस्कृतियों के तहत पनपने वाली समझ के बीच की खाई को भी पाटना होगा।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं)

साभार : दैनिक जागरण





सड़क अतिक्रमण की गंभीर समस्या

● सुभाष चंद्र कुशवाहा



देश भर में तमाम जगहों पर मस्जिदों और मजारों व अन्य धार्मिक स्थलों की वजह से एक्सप्रेस हाइवे तक प्रभावित हो गए हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों ने या तो उनके रास्ते बदलने को बाध्य किया या उन्हें और तंग किया है। हमारा तंत्र धार्मिक प्रतीकों के आगे कितना बौना होता है, यह इस तथ्य से समझा जा सकता है कि अधिकांश धार्मिक संस्थान तो सड़कों को रोक रहे हैं, या प्रभावित कर रहे हैं, धार्मिक धंधेबाजों द्वारा अपने स्वार्थ में रातोंरात बनाए गए हैं। बरेली, आगरा, मेरठ, कानपुर, लखनऊ और मुरादाबाद में कई मंदिरों या मजारों राष्ट्रीय राजमार्ग को प्रभावित कर रही हैं। ग्रेटर नोएडा एक्सप्रेस हाइवे, राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या-24 पर बीचोबीच मंदिर बना लिया गया है। एक अनुमान के मुताबिक केवल उत्तर प्रदेश में लगभग छह हजार से ज्यादा धार्मिक स्थल, सड़क मार्ग को अतिक्रमण कर बनाए गए हैं। देश की राजधानी दिल्ली में लगभग ढाई हजार से अधिक धार्मिक स्थल, मुख्य सड़कों पर हैं।



अ नियंत्रित आबादी, वाहन क्रांति और उद्योग-धंधों के विस्तार से सड़कों पर दबाव लगातार बढ़ता जा रहा है। यह जानते हुए भी कि सड़कों के सुगम और अवरोधरहित होने की दशा में ही विकास की नब्ज धड़कती है, समाज की सेहत और समय की हिफाजत होती है, इस दिशा में कुछ ठोस नहीं किया जा रहा है। यहां तक कि दुकानदारों और धार्मिक स्थलों के कब्जे से सड़कों पर पैदल यात्रियों के लिए जगह नहीं बची है। भारतीय सड़क कांग्रेस (आईआरसी) के अनुसार पैदल यात्रियों के लिए शहरों या महानगरों में डेढ़ मीटर चौड़ा पैदल पथ होना चाहिए, परंतु चैन्नई जैसे महानगरों में अतिक्रमण के कारण 52 प्रतिशत पैदल पथ, इस मानक पर खरे नहीं उतरते। आईआईटी, कानपुर ने अपने अध्ययन में पटना के राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या-38 पर अतिक्रमण और उसकी वजह से होती दुर्घटनाओं को रेखांकित किया है। पंजाब के अंदर एक-दूसरे को जोड़ने वाली सभी प्रकार की सड़कों की कुल लम्बाई 28 हजार किलोमीटर है, जिनमें से 10 हजार किलोमीटर सड़क अतिक्रमण में फंसी हुई हैं। एक सर्वेक्षण

के अनुसार महानगर पालिकाओं, नगर पालिकाओं, नगर निगमों या क्षेत्र पंचायतों के अन्तर्गत स्थित शहर, कस्बों की सड़कों का लगभग 30 से 60 प्रतिशत भाग अतिक्रमण ने निगल लिया है। पैदल चलने वालों की समस्या, कभी भी हमारे नियोजनकारी संस्थाओं की निगाह में नहीं रही। उन्हें भगवान भरोसे सड़क पर छोड़ दिया गया है। पैदलपार पथ की अवधारणा को हम मात्र रस्म अदायगी समझते हैं। जहां कहीं पैदलपार पथ होते भी हैं तो वह दुकानदारों या खोंमचे वालों द्वारा कब्जा कर लिए जाते हैं।

धर्मभीरुता के मामले में हम दुनिया में निराले हैं। हमारे इष्ट देवों को कितने धार्मिक स्थल चाहिए, इसकी सीमा तय नहीं है, पर इतना तो तय ही है कि ज्यादातर धार्मिक स्थल, निजी जमीनों के बजाय सरकारी जमीनों पर कब्जा कर बनाए गए हैं। सड़कें इस कार्य के लिए सबसे उपयुक्त दिखती रही हैं। उत्तर प्रदेश के सारे शहरों की सड़कें, अतिक्रमण और अवैध कब्जों से कराह रही हैं। आज वाराणसी की पहचान केवल गंगा, मंदिरों और गलियों से ही नहीं, हर कहीं सड़कों के बीचो-बीच बने मंदिरों से भी



हो रही है। देश भर में तमाम जगहों पर मस्जिदों और मजारों व अन्य धार्मिक स्थलों की वजह से एकस्प्रेस हाईवे तक प्रभावित हो गए हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारों ने या तो उनके रास्ते बदलने को बाध्य किया या उन्हें और तंग किया है। हमारा तंत्र धार्मिक प्रतीकों के आगे कितना बौना होता है, यह इस तथ्य से समझा जा सकता है कि अधिकांश धार्मिक संस्थान तो सड़कों को रोक रहे हैं, या प्रभावित कर रहे हैं, धार्मिक धंधेबाजों द्वारा अपने स्वार्थ में रातोंरात बनाए गए हैं। बरेली, आगरा, मेरठ, कानपुर, लखनऊ और मुरादाबाद में कई मंदिरों या मजारों राष्ट्रीय राजमार्ग को प्रभावित कर रही हैं। ग्रेटर नोएडा एक्सप्रेस हाईवे, राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या-24 पर बीचोबीच मंदिर बना लिया गया है। एक अनुमान के मुताबिक केवल उत्तर प्रदेश में लगभग छह हजार से ज्यादा धार्मिक स्थल, सड़क मार्ग को अतिक्रमण कर बनाए गए हैं। देश की राजधानी दिल्ली में लगभग ढाई हजार से अधिक धार्मिक स्थल, मुख्य सड़कों पर हैं।

धार्मिक स्थलों के अलावा शहरी या बाजार के दुकानदारों की सारी गतिविधियां सड़कों पर संचालित होती हैं। दोनों तरफ से सड़कों को इस कदर कब्जा कर लिया जाता है कि यातायात का सुगमतापूर्वक निकलना असंभव हो गया है। स्थानीय पुलिस की मिलीभगत से ही ज्यादातर अतिक्रमण होते हैं। अतिक्रमणकारियों से की जाने वाली अवैध वसूली, उन्हें सड़क पर जमे रहने का लाइसेंस देती है। अतिक्रमण हटाने के नाम पर हमारे यहां अक्सर नाटक किया जाता है। एक ओर से अभियान चलाकर अतिक्रमण हटाया जाता है, तो दूसरी ओर से उन्हें काबिज होने की हरी झंडी दिखा दी जाती है। अतिक्रमण से अवरुद्ध होती सड़कें, कई प्रकार की समस्याओं को जन्म देती हैं। मसलन, गाड़ियों के रुक-रुककर चलने से ईंधन व्यय और प्रदूषण बढ़ता है। जाम की वजह से समय की जो बर्बादी होती है, इस क्षति का भी अभी ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया गया है। ठेले और खोमचे वालों की भीड़ सड़कों का बड़ा हिस्सा

घेर लेती है। इसके अलावा, टैक्सी और ऑटो जैसे वाहनों के खड़े होने की उपयुक्त व्यवस्था न हाने के कारण अधिकतर शहरों में इनके ठहरने का स्थान सड़कें ही होती हैं। पार्किंग स्थलों का आभाव, सड़क को पार्किंग प्लेस बना देता है। विज्ञापन कंपनियां या व्यवसायी, होर्डिंगों को बेतरतीब ढंग से लगा कर सड़कों की चौड़ाई को प्रभावित करते हैं।

अभी 18 जनवरी को सर्वोच्च न्यायालय ने भविष्य में सड़कों की जमीनों पर धार्मिक स्थलों के निर्माण पर रोक लगाने का आदेश दिया है। इसी प्रकार, एक आदेश 29 सितम्बर, 2009 को भी सर्वोच्च न्यायालय ने दिया था लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ था। दरअसल कब, कहां, कौन अतिक्रमण कर रहा है, इसकी निगरानी और रोकने की जवाबदेही अभी तक तय नहीं है। संबंधित सड़क विभाग, पुलिसविहीन होने के नाते, थानों के सहयोग पर निर्भर होते हैं। इसके अलावा धार्मिक अतिक्रमण करने वाला ज्यादातर लोग दबंग किस्म के लोग होते हैं और उनके खिलाफ खड़ा होने की हिम्मत, सड़क विभाग के पास नहीं होती। ऐसी कार्रवाइयों के विरोध में धर्म नाम पर भीड़ को बरगलाना भी आसान होता है। इस मामले में थाना पुलिस की भूमिका निराली होती है। अनुचित लाभ पर तो वह अपना अधिकार समझती है लेकिन दायित्वों को संबंधित विभाग पर टाल देती है। जिले के अधिकारी अतिक्रमण हटाने को एक सिरदर्द के रूप में लेते हैं और आंखें मूंदकर वक्त गुजार लेने की नीति का अनुसरण करते हैं।

ऐसे में सड़कों का अतिक्रमण, सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के बाद भी रुकेगा, यकीनी तौर पर कहा नहीं जा सकता लेकिन स्थिति जिस तरह बिगड़ती जा रही है, आने वाले दिनों में वह दूसरी तमाम समस्याओं को जन्म देगी, जिसमें धार्मिक उपद्रव भी शामिल हैं। ऐसे में सड़क पर नए अतिक्रमण को सख्ती के साथ न केवल रोका जाना चाहिए, अपितु पुराने अतिक्रमण को हटाने के लिए भी प्रभावी कार्रवाई की जानी चाहिए।

साभार : राष्ट्रीय सहारा





FEMALE FOETICIDE

● Sonal Mehta

INTRODUCTION

The topic on which I have share my views is very apt in today's scenario & being a female, very close to my heart, Repercussion of female foeticide, I get tongue tied when I use the world foeticide. Since time immemorial women have been discriminated, harassed & exploited irrespective of the place they live, religion they follow & time frame in which they live. Girl is considered as an additional burden, a liability, other man's property to be nurtured by parents for the time being. The age old preference for son is motivated by economic, religious, social & emotional desires.

SOCIOLOGICAL ASPECT

According to Manu a man can not attain Moksha unless he has a son to light his funeral pyre. A woman who gives birth to only daughters can be left in the 11th years of marriage! Our society is male dominating and one sided as men carry the family name forward, they are the bread winners, they perform shraddh, pindadaan and last rites. People believe that their soul will not rest in peace if a son is not born to them. In this entire saga/gaga of male superiority where does the fairer sex life? Just as a second rate citizen, a subordinate to the superior Sex or just a means to fulfill men's desires & a flesh bone accumulate for procreation with no social security and recognition.

The long standing preference for son coupled with medical technology now given the Indian family who consider son as a status symbol of choice between payment of

large dowry for their daughters or elimination of daughters itself. Previous techniques of stuffing girl infant with paddy husk or poisoned milk or stuffing the new born with a cloth or pillow is replaced with aborting a female foetus-a means of disposing off the unwanted girl child. Infanticide is an overtly barbaric & in human practice while foeticide is carried out by skilled medical practitioners using scientific techniques & skills & reducing the guilt factor associated with the murder. It is appalling to see that thee people in one of the noblest profession-the doctors are participants of this illegal, inhuman money making venture. Ironic to see that the most sex selective operations are performed by lady doctors. Even more disheartening is the fact that women agree to undergo a sex selective abortion knowingly contributing to the depletion of their own sex.

Hundreds of clinics are carrying sex determination tests illegally in lanes & by lanes. According to United Nation an estimated 2000 unborn girls are illegally aborted every day in India. Female foeticide is a practice that involves prenatal sex determination & a subsequents abortion, if the sex of the foetus is female. How can we Compete with the developed nations when technology for the benefits is used in improper use like the portable machines are taken to remote motorcycles & thus infanticide has become foeticide. Although India has a history of skewed female sex ratio what the country witness now is systematic extermination of female child with ultrasound machine servicing as an instrument of



murder. Bone chilling example like baby girl in a polythene bag dumped in a dustbin, recovery of peices of bones of newly born or female foetuses form a hospital backyard in Ratlam district in M.P. & Pattaran in Punjab.

STATISTICS

Now lets us look at some statistics issued by compentetn bodies from time to time. Worst sex ratios are found in Punjab, Orissa, Rajasthan, Haryana & even in Delhi. Trend is far stronger in urban than in rural areas & among the literate irrespective of religion & caste contradicting the myth that education, affluence, religion are the key factors in controlling the gender bias. From being come 976 in 1961 Indian female count has come crashing down to 927 per 1000 males & in place liked south Delhi & Mumbai Borivali it is alarming 762 & 728 respectively. According to U.N. between 35 to 40 million girls are missing form the Indian population. A reasearch conducted by Dr. Prabhat Jha of University of Toronto & published in a British Medical Journal Lancet states that since 1994 over 1 core female foetuses have been aborted in the country. According to India Medical Association, due to prenatal sex determination norms, male female ratio in the world is 1050:1000 while in India it is too less. In human development survey report India is placed at 124 position among 1/3 countries. It is a fact that our country is much behind compared to the other countries in respect of education, health & gender discrimination.

PROBLEM/REPERCUSSION

If this practice of female foeticide continuous, it will disturb the social balance & may lead to serious problems like increase in sexual offences, sharing of women with in & outside the wedlock resulting in greater insecurity to women. No girls will be available

for the marriage of the son to maintain the lineage & continue the human race. The skewed sex ratio will mean bachelorhood for many men, social strife & explosion of H.I.V.-A.I.D.S. & other sexually transmitted diseases. An example can be taken from the neighbour hood china where sex selection due to the stringent one child norm has resulted in 40 million bachelors. Female foeticide has implications on the health of the mother. It also affects the status of wome & has serious ecological & demographical ramification. It is a great problem that affects the life, health & very being of the society & yet has received little attention.

LEGAL ASPECTS

Although India has a history of imbalance sex ratio. The first census survey of 1871 prompted britishers to pass the infanticide act due to abnormal sex ratio of 940 women per 1000 men. In recent year laws like pre-natal diagnosis techniques (regulation & prevention of misuse) act in 1994 & came to force in 1996 still the situation is far from improved & this act was amended in 2003 as preconception & prenatal diagnosis technique. PCPNDT act making female foeticide a criminal offence & punishing the parties involved, specially the medical practitoner with a fine of Rs. 1 lac & even imprisonment up to 5 years. This offence is non bailable, cognizable & non compundable.

SUGGESTED REMEDY

A new spirit has to be imbibed propagating that a female child is not a curse or a liability but a mother, a companion. Families need to value their daughters more & for this, men should be sensitized as in most of the families they are the decision takers. The medical professionals have to be more society



oriented & should play their part effectively to see that the provisions are implemented & adhere to the ethics of their profession also. Education should also be more gender specific & include the feeling of equality between both the sexes since childhood as today's children will be tomorrow's citizens. Promoting gender balanced society from the gender biased society involves a long-term community efforts including various programmers addressing girl child's rights all those who have a stake in it, apart from government authorities like women groups, health groups, NGOS the academia, the mediacal professional & the media. Media being termed as the fourth pillar of society including legislative executive & judiciary should start a nation wide program promoting the gender balance.

In the society, media should come forward to create awareness for abolishing age old obsolete customs like; son is the pre-requisite for Moksha attainment so all the rituals are to be performed by him. Daughters are in no respects lesser than the sons & in present scenario in fact females are proving ahead than males & this should be systematically popularized in the masses enlightening them towards the lack of females in the coming years. A very good initiative is taken by a

N.G.O. in Haryana introduction Aathawan fera to sustain female fetus/child in the traditional seven vows of marriage according to Indian customs. Such acts should be popularized by media.

CONCLUSION

As the old saying goes that men women are the wheels of the same cart & for the society both are necessary. The practice of female foeticide is a violation of human rights & a questin mark on our integrity as human beings. Rules of patriarchal society needs to be reframed & men & women be treated as individuals valued for their worth. If this genocide/foeticide continuous then it will have a disastrous impact on future existence of its generation shame that in a country of ours where shakti is worshipped. The very form is being threatended. Its an irony that to attain Moksha (Through Pindaddaan, funeral pyre), murder is being done in our society which tells about our adaptation of religion according to our comfort. If we want a balanced society a torch bearer economy, a super power nation then gender equality should be at the top of the development agenda.

- writer is Research schoar in Jiwaji
University Gwalior



“Just because today is a terrible day doesn't mean tomorrow won't be the best day of your life. You just gotta get there”

-Anonymous



NOT TOO LATE TO TRAP SOLAR ENERGY

● Kotar Shriraj



Blessed with 300 sunny days, India is capable of production 5,000 trillion kilowatts of clean energy that is not only affordable but also scalable. This energy can drastically reduce our energy deficit and minimise carbon footprints



The Jawaharlal Nehru National Solar Mission was established in 2010 with the objective of promoting ecologically sustainable growth. A target of 22,000 MW was to be installed by 2022. The first phase, completed in December 2012, aimed at setting up a nurturing environment for solar technology to penetrate the country both at the centralised and decentralised level. This included promoting off-grid systems to serve populations without access to commercial energy and modest capacity addition in grid-based systems. The first phase of JNNSM has established the required foundation by ensuring that India now generates 979 MW of solar power from less than 20 MW in a span of two years. Another 820 MW will be generated by mid 2013. Interestingly, 700 MW of this comes from a non-JNNSM state, Gujarat. The Gujarat Solar Policy was announced almost at the same time as the JNNSM, but it was quicker in allocating projects and signing power purchase agreements. This was made possible by not

following the reverse bidding process for project allotment and instead opting for a first-come-first basis model. In addition the projects under the Gujarat policy were accorded higher tariff, thereby making it more lucrative.

The first phase has seen a welcome trend of the price of solar energy come crashing down. In November 2010, when the first tender for solar photovoltaic power was opened, the lowest tariff was 10.85 rupees per kilowatt hour. A year later, in December 2011, when new bids were opened, the tariff was down to 7.49 rs, per kWh. What makes solar energy utilities buying power at 4-5rs. per kWh. The year 2013 marks the beginning of phase II of the National Solar Mission with the Union Ministry of New and Renewable Energy setting a target of 9,000 MW of solar power by 2017, of which 5,400 MW will be paid for by cash-strapped States. But the first phase has provided certain challenges that need to be attended to for a smooth second phase run.



For instance, the procedure to avail duty exemption is lengthy, involving the multiple bodies- State and the Ministry concerned- resulting in time delays for the projects. In addition, the US and the Chinese imports of equipment can be brought into the country tax-free, whereas Indian manufactures have to pay duties on raw materials to make the same products. Nearly 5-10 acres land is required per MW and its acquisition has been another area of concern with JNNSM leaving the formalities to State level agencies thereby adding another bureaucratic hurdle and a potential delaying factor for the projects.

● **The first phase has also thrown up some observations on the technical side. Like any upcoming sector, established and reputed manufacturers of modules and inverters are finding traction with bankers. The vendor competency is hinging on their reputation and ability to offer performance guarantees for lifetime of the project and this is fast becoming the norm.** ●

The first phase has also thrown up some observations on the technical side. Like any upcoming sector, established and reputed manufacturers of modules and inverters are finding traction with bankers. The vendor competency is hinging on their reputation and ability to offer performance guarantees for lifetime of the project and this is fast becoming the norm. As opposed to this the technology and quality of Indian modules and inverters still requires to be proven and the second phase is a good opportunity. But for this the Government needs to provide impetus for manufacturing

in this area, including for raw materials which has been highly fluctuating in the past, leading to imbalance in demand supply equation, fluctuating prices and availability of raw material. Currently, the silicon production capacity is much higher than the demand and prices are at significantly low levels compared to the scenario a year back. In the past, some of the solar PV firms had entered into rate contracts with silicon wafer suppliers to ensure availability. With a sudden reduction in price, the contracts now prove to be a loss-making proposition for these firms. This situation is compounded by non-availability of advanced thin film technology in India.

India, with 300 sunny days and solar insolation of 4-7 kWh/sq m per day, has an abundance of solar energy capable of producing 5,000 trillion kilowatts of clean energy that is not only affordable but also scalable. This energy can reduce our energy deficit without carbon emission. The JNNSM's second phase, building on the success of the first, is a good opportunity to not only ensure clean power but also nurture and develop the nascent solar products and allied industry.

Courtesy :- The Pioneer





VICTIMS OF CRIMES DESERVE A BETTER DEAL

● Dr. S. Saraswathi

Victims in India remain victims not only of crimes, but also of systems, social institutions, and circumstances. In fact, even registering the case by ordinary citizens without “push and pull” is done against many odds for various reasons including lethargy and lack of awareness of their rights on the part of the victims. Potential victims must therefore equip themselves with at least elementary knowledge about their rights, and means of seeking help from support system and managing crisis situations.

The Government may have exhibited its serious intent of checking crimes against women by promulgating an Ordinance to make the law against sexual harassment more stringent, however, it could do one better if it enlarges its canvas.

In the wake of several crimes against girls and women, the question of the rights of the victims has surfaced as a neglected area in the criminal justice system in the country. This needs to be addressed as the penal laws focus on crimes and criminals and almost exclude the victims. There is practically no crime without one or more victims. They receive physical and mental injury, and/or material loss and emotional pangs. While the rights of the accused and the suspects are established by laws and judicial procedures, little protection is guaranteed to the victims.

The concept of victims' rights is rather new. Their interests and any compensation for the

losses they have suffered are sought to be safeguarded mostly by the executive orders of the Government.

Victimology a term that came into vogue in the 1940s- is the scientific study of the extent, nature, and causes of criminal victimisation, its consequences on the person(s) involved and the reaction of the public and the law enforcing authorities and the judiciary.

Among other things, it deals with two main issues surrounding the victim of a crime. One is victim-offender relationship, and the other, the welfare of the victim. The latter that has been ignored for a long time, is presently receiving some attention in criminology. The criminal justice system in India has to catch up with the trend in other parts of the world. It has to provide a better deal for the actual and potential victims of crimes.

The UN General Assembly adopted the



Declaration of Basic Principles of Justice for Victims of Crime and Abuse of Power in 1985. It recognized four major components of the rights of victims, namely, access to justice and fair treatment; restitution; compensation; and assistance. However, these declarations are not legally binding on the member-States.

In the U S, many States have enacted Victims' Bill of Rights in the 1980s. At the federal level, the Victims' Rights and Restitution Act was adopted in 1990. In Canada also, each province has its own bill of rights for victims. In Britain, a Victims' Charter of Rights has been issued.

The French legal system permits crime victims to become parties to the proceedings from the beginning of investigation.

A recommendation to this effect was made by the Malimath Committee in India in 2003. It has also recommended that victims should have the right to be represented by an advocate, and should have the right to appeal against any adverse order.

Any victim of a cognizable offence can lodge a complaint at the police station, and he/she also has the right to approach the Supt of Police in case his complaint is not registered by the police. He can even directly approach a Magistrate with his complaint.

But, victims in India remain victims not only of crimes, but also of systems, social institutions, and circumstances. In fact, even registering the case by ordinary citizens without "push and pull" is done against many odds for various reasons including lethargy

and lack of awareness of their rights on the part of the victims.

Potential victims must therefore equip themselves with at least elementary knowledge about their rights, and means of seeking help from support system and managing crisis situations. This is not possible without the active involvement of the police and the judicial machinery, and educational institutions. There are three important Central legislations to ensure minimum protection to the weak and vulnerable groups- (1) The Scheduled Castes and Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act, 1989; (2) Protection of Women from Domestic Violence Act, 2005; (3) Maintenance and Welfare of Parents and Senior Citizens Act, 2007. Besides these, there are laws against dowry, female foeticide, child abuse, etc. The National Commissions for SC, for ST, for women, and for protection of child rights have been set up to protect their rights and interests.

However, there is strong academic and public opinion in India that actual crime rates are much higher than the number reported especially in crimes against women. This itself is a testimony to the unenviable plight of victims seeking justice and protection. Failure to report crimes on the part of victims may be partly due to the ignorance of the victims, but mainly due to their distrust in the system in place.

□ □ □

Courtesy :- The Hitavada

"Broken things can become blessed, if you let god do the mending"

-Anonymous



POLICE SENSITISATION IS THE NEED OF THE OF THE DAY

● Navaz Kotwal

The need to go beyond the present unidimensional quantitative crime-based assessment of policing has become essential following the new impetus to police reforms given by a Supreme Court judgement.

Registering a complaint is an ordeal for both women and people belonging to the weaker sections of society. Cops who refuse to register FIRs must be immediately suspended". These were the observations of the Union Home Secretary in wake of national outrage against rising crimes against women.

If only the Home Secretary had gone through the innumerable recommendations and suggestions of commission after commission, he would have known better. Suspension of a cop for failure to register crime is another knee-jerk reaction which the public is beginning to view with scepticism and fatigue.

Non-registration of crimes is a larger problem and needs a holistic remedy. At today's date police performance is unfairly assessed. The prime measure of performance is gauged on the number of crimes registered and cases 'solved'. The police do not register crimes easily because it means they have to investigated when they are undermanned, badly deployed and often subverted from their duties to run personal errands for bosses and patrons. High crimes

reflect badly on a police establishment. The easier option is to keep the number of complaints filed at a constant every year. With no inconvenient evidence of poor policing and poor governance to show up the police or their politican patrons, the opposition can hardly mount strong complaints. The media is quiet and everyone looks good even if the population is quietly being done to death.

The practice of refusal to register crimes is entirely against the law and amounts to a denial of access to justice a fundamental right of all living in this country. The police refusal has many more knockon effects including complete erosion of public confidence, alienation and resort to selfhelp and seeking assistance from other more 'effective' sources. Certain segments, including many in the generic category of 'poor' are worse affected than others. Perceptions of bias are nurtured and alienation of the state results with all the evident disruption we are increasingly witnessing. While there is no excuse that can justify non-registration of complaints, the priority given to quantifying what crimes have been 'solved' crime



amounts to, has perpetuated non registration to the extent that it has strongly emboldened criminals. This has demoralised a force which is undermanned, overworked, often underpaid and frequently involved in unjustifiably dangerous work.

The increases violence of the times, coupled with the increasing demand for better safety and security and cries of dissatisfaction with police performance necessitate examining ways and means by which policing can be incentivised to be more purposive and more fairly judged.

Qualitative, rather than the solely quantitative, indicator of crime registration offers the possibility of incentivising police personnel to perform incrementally better year on year. The use of multi-benchmarked nuanced indicators has many benefits as they become embeded year : Improvements beyond crime assessment include sharpening policy and priority focus, streamlining management practises, trageting scare resource, assuring better manpower deployment and measuring group and individual performance more fairly.

The need to go beyond the present one-dimensional quantitative crime-based assessment of policing is also more urgently signalled by the new impetus to police reforms given by a Supreme Court judgement. The newly created state security commission is tasked with setting policing as well as evaluating the performance of the police.

Success of policies drafted by this commission will need to be reflacted in improved police performance that can be measured only through cailbrated indicators such as enhancing public satisfaction, perceptions of increased safety and security for women and other vulnerable groups, reducing crime and victimisation, holding offenders accountable (clearance and conviction rates), reducing fear and enhancing security (feel safe in home, neighbourhood), using force sparingly and fairly, using money efficiently and fairly as well as hard indicators such as prevention of frequent occurrences like communal violence.

For all this to be set - basetargets need to set - baseline surveys of incidence of reported crimes; public satisfaction with police performance combined with survey of community knowledge of incidence of crime need to be conducted. The new system will open up the possibilty of consistent and holistic evaluation of the police on the basis of pre-determined planning, provisioning and rationalised performance parameters, which would pave the road to better and better policing year on the year. The elements of how this to be achieved have been laid down. What is lacking is implementation. It is time for change.

(The writer is coordinator, Police Reforms Programme, Commonwealth Human Rights Initiative.)

Courtesy :- The Pioneer





FOR SUSTAINABLE URBAN GROWTH

● PRANAV ANSAL

With the use of modern technology and modern management techniques, it is possible to strike a balance between growth and environment protection, to make explicit the trade-off between the two seemingly conflicting factors. And, that's happening

Balancing environment with urban growth is what we can call as sustainable urban development. Urban growth and environmental conservation have always been seen as antipodal approaches towards our life. While urban growth has been the undertone for development the world over for the last many centuries, the last almost 50 years have seen a rise in the number of environmental activists' who, while laying great stress on the conservation of the depleting environment, view development as environment's adversary.

In the Indian context, however, ecological security in a framework that promotes economic growth is what the country is looking for. In some cases, the toss of the coin will favour economic growth and in many cases, it will favour environmental control.

With the use of modern technology and modern management techniques, it is possible to bring about this balance, to make explicit the trade off between environmental protection and economic growth.

However, it is to be noted that economic growth that is environmentally not benign, growth that is ecologically not secure, is not sustainable. So, there is really no trade off between the two.

While environmental impacts of urban growth could be defined in many ways, mostly in the negative, the real estate sector perhaps is the one which can really bring positive changes vis-a-vis environmental impacts emanated by this sector.

While one feels environment and development can certainly co-exist, yet one must also point out that there is no need to treat the environmental clearance of the real estate projects on par with the industrial projects.

Real estate developers are complying with unmerous environmental laws, norms and standards. As presently administered, however, many environmental protections create uncertainties and delays that make it difficult for developers and builders to predict cost impacts and factor them into development and construction plans.

Ideally, such projects should be cleared in one go, provided the developer meets all criteria; nonetheless, there are numerous examples where developers are made to appear for several presentations for one reason or the other.

These days, various ecology and land use-related laws too have put impediments



in way of acquiring land smoothly and at reasonable price. Litigations against fair land acquisitions and less-than-satisfactory intention of Government in handling such litigations owing to political reasons, causes great amount of delay and price escalation of projects.

With the fast sprouting satellite townships and small cities, India recognises the need for more houses for the population. Rural-urban migration would continue because of many reasons. Rather this is an accepted phenomenon now and this shift has resulted into tremendous change in urbanisation. More people will be living in urban centres in the 21st century as compared to rural areas.

The population has increases from 1,020 million to 1,210 million during 2001 to 2011, whereas, the number of urban dwellers increased from 289 million to 317 milion. The numbers of metropolitan cities stood at 53 in 2011.

Urban growth is associated not only with addition of large number of human beings but also with physical dimensions of 'urban centres.' Distance between activities such as living, working and leisure have increased and is increasing day by day which have resulted in an increase in the number of vehicles on the roads.

Urban centres are also fast emerging as largest consumers of nonrenewable resources and energy which are adversely impacting sustainability of these centres. Besides being large consumers of energy and resource, 'urban centres' are also generatin enormous amount of waste which pollutes water, air and basic land necessities of human survival.

Rapid urbanisation basically means that cities have become large in terms of area,



"Real estate developers by and large comply with the many environmental laws, norms and standards. In the way they are presently administered, however, many of these norms create uncertainties and delays, making it difficult for developers and builders to predict cost impacts and plan well"



population and activities. If one is to summarise what urbanisation has resulted into, it is water, air and noise pollution; reduction in green cover; depletion in natural resources; huge amounts of urban waste and more.

To move forward we need to adopt a balanced approach. Hence it has become necessary that:

- Urban planning, development and management be critically looked into and appropriate strategies enforced to ensure that urban growth is both natural



- and sustainable. This is important not only for socio-economic growth of the society but also for mankind's survival.
- In order to promote urban sustainability it is important that a pattern of urban growth should be rationalised and cities be planned as more compact units in order to minimise the travel within urban areas.
 - The underlying approach for planning cities should be to make cities/urban centres energy efficient, which would help in making cities cleaner, greener and sustainable.
 - Decentralisation and mixed land-use planning should be used effectively to reduce travel distances will promote pedestrian and non-mechanised use of vehicles which are environment friendly. Dedicated right of way for cycles/pedestrian travel is also essential.
 - As per studies, 50 per cent of the total energy is consumed by structures during their life span. Thus, the adoption of a 'green building' concept would help to a large extent in the task of balancing the environment.
 - Building regulations and development controls should be framed in a way that it does not create hurdles in designing green buildings.
 - For compact planning, land pooling schemes ought to be adopted. Large-scale imaitjprosed cp;pnies have resulted into urban slums which need immediate attention.
- The balance between environment and urban growth can only be achieved by planned urban development in the future. Punjab has already taken a major step in this direction by notifying master plans for major cities. This has been done with the twin objectives of ensuring planned future expansion and to prevent mushrooming of unplanned construction around the cities. Areas have been earmarked as 'residential', 'industrial', 'mix use.' Ecologically sensitive areas and forests too have been marked. The same is the case with Haryana.
- The main goal of urban planning is to make all amenities and comforts available to the public without imposing many negative effects on environment, which is aptly referred to as "sustainable growth."

Courtesy :- The Pioneer



"If we're growing, we're always going to be out of our comfort zone."

– John Maxwell





TEACHING FEW, AND IGNORING OTHERS

● MEETA W SENGUPTA

Our educational system has to be geared up to meet the needs of those students who battle some form of disability or the other and remain on the fringe

It is not enough to work only to educate some people and not plan to include the rest. It is as if those left out are of less importance, or their needs are less urgent. It is true that India faces a huge challenge in education. To design for some and leave out the rest may be pragmatic, but it is also rather sad.

Even the Right to Education Act applies only to those between the ages of six and 14, there is no provision for its future. The assumption is that the eight years of schooling would prepare the child for life. This would be true in a perfect world, but we have not attained there yet. If children have not been taught well, then they have little to show to the world. Given the poor quality which was exposed by the Annual Status of Education Report and Programme for International Student Assessment results, amongst others, it is likely that the children are being effectively groomed. Children now do not even get a second chance at learning since they cannot be detained in a class where they have 'failed' to meet the standards expected.

Those with disabilities whether mental, learning or physical find themselves sidelined even earlier, unless they are very lucky. Most schools are built without ramps for wheelchairs. Few teachers are trained in

identifying special education needs, let alone in dealing with them. The dyslexia depicted in a famous movie is but one kind of special need; there are other students that need support and guidance to be able to lead independent lives. It is only the rare 'elite' school that has counsellors, and even they are generalists, not specialists. In many countries, those with limited or no hearing or vision live full lives, with jobs, given the right education and support. Our education system denies them the chance of a life of dignity as it does not provide for them yet.

As we try to raise the skill levels of the nation, and include more students in higher education, we tend to lose sight of the less able and the less fortunate. It would be wonderful if the new community colleges mooted are designed to serve their local community in an entirety rather than merely become a replica of other university-linked colleges. To serve the less able and provide for their independence benefits both the individual and those who would otherwise have to invest in their care. To include the middle-aged and the elderly is to create a more cohesive society with better mental health.

Those who got left behind in schooling



often do not have the means of raising themselves to the standards required for higher education. If they dropped out of school they are rarely able to get back on the education ladder. Even as the nation plans to build pathways via vocational and skills training, everyone acknowledges that the numbers involved are blindingly large. These numbers only include youth up to the age of 25 years; those above are not part of the plans or targets yet. Some may say this is a moot issue, since we do not have the capacity to meet the needs of even a fraction of this surge. Yet it matters schemes will be designed either to meet the needs of the entire population or will cut off opportunity, possibly by age. If the planning itself is 'ageist' or 'ableist', then it is not inclusive. If it does not include all those who can improve their lot with education, it can never overcome the gaps between the haves and the have-nots.

We see exactly the same thing happening

in higher education - the goal is set in terms of higher gross enrollment ratio which does not include life-long learners. Nor are the less able tracked or supported. The choice to look away from the less fortunate seems to have slipped through in the Right to Education Act too where a number of budget schools, regardless of the service they provide, are scheduled to be shut down. They do not meet the input criteria that are used as a proxy for quality.

For policy-making to be relevant, it must start from the people, their needs and their aspirations. Every individual matters; they cannot be fed off the same template. Mass customisation and the ability to create a diverse mosaic of opportunities will deliver relevant education and accessible opportunities to all. To plan for the young, fit and able first may be pragmatic, and the plan may make them richer. but it leaves us poorer as a society.

Courtesy :- The Pioneer



“Be Content with what you have; rejoice in the way things are. When you realize there is nothing lacking, the whole world belongs to you.”

— **Lao Tzu**

“Using no way as a way, using no limitation as limitation.”

— **Bruce Lee**



AILING HIGHER EDUCATION

● Lokesh Malti Prakash

There are some legitimate concerns about this World Bank-inspired Innovative Universities Scheme as it goes against the very idea of establishing an egalitarian education system by creating islands of excellence and thus lowering the access of people to higher education, writes

Institutions of higher learning in Madhya Pradesh are in a state of terminal decline. Attempts made by the State Government, ostensibly to improve the condition of universities and colleges, have proved to be superficial as they fail to address the core issues of higher education in the State.

A report published in a regional newspaper recently, points out that no university in the State has grade 'A' accreditation from the National Assessment and Accreditation Council (NAAC) due to which none of the State's universities is eligible for receiving grants from the Universities Grants Commission (UGC) under the Innovative Universities Schemes. Under this scheme, eligible universities were to be given a grant ranging between Rs. 25 crore and Rs. 300 crore in the 12th Five Year Plan.

There are some legitimate concerns about this World Bank-inspired Innovative

Universities Scheme as it goes against the very idea of establishing an egalitarian education system by creating islands of excellence and thus lowering the access of people to higher education. (Further, such measures also have a role to play in the systematic decline of higher education as we shall discuss below.)

That apart, the fact that the whole process of accreditation has its own problems and issues, cannot be used to totally brush aside the fact that since it is coming from a public institution it does provide an indication of the state of education in any institution. Therefore, if none of the State's universities have got grade 'A' there is legitimate ground for raising eyebrows. The question is what ails our institutions of higher learning?

"What we are witnessing is not an accidental occurrence, but a systematic crisis of education which is intricately linked with



*THE QUESTION IS, HOW
LEARNING CAN BECOME
VALUABLE IN A SOCIETY
WHERE KNOWLEDGE IS SEEN
MERELY AS AN EXERCISE IN
HONING 'HUMAN RESOURCES'
THE DECLINE OF HIGHER
EDUCATION IN THE STATE
HAS TO BE SEEN IN A WIDER
PERSPECTIVE IF WE ARE
REALLY SERIOUS ABOUT
SALVAGING IT*



the inegalitarian social order perpetuated by the capitalist economy. This system promotes islands of excellence amidst mass garbage," points out HS Yadav, Professor of Economic Planning and Development at Barkatullah University in the State capital.

"The State has gradually withdrawn itself from the responsibility of providing equitable education to everyone. Thus, Public universities have been systematically starved of funds, faculty and infrastructure, on the one hand, and private businesses in education have been promoted on the other hand, most of which are nothing but shops to sell

degrees, "he continues with a visible anguish."

The anguish expressed by the Professor is not without reason. Barkatullah University itself is good illustration of what is happening here. The university is facing a serious crisis of funds and faculty. Many departments are being run by single teachers, self-financing courses taught by low-paid guest faculties have been initiated, and there has been a freeze on inducting permanent staff for many years. In fact, there are no university teaching departments for major courses like chemistry, mathematics or political science.

It's worth recalling at this point that the State government had arbitrarily cancelled the need-based funding for the universities and replaced it with 'blockgrant' nearly 10-12 years ago, ie a lumpsum granted to the institution regardless of its need. According to sources, Barkatullah University gets a grant of Rs. 4 Crore which is barely sufficient to meet the salaries of university staff. The situation is not different for other State universities either.

The fact is that in the past years, especially since the onset of economic reforms, there has been a gradual decline in budgetary allocations for higher education. This reduction has been mainly in plan expenditure which directly affects the infrastructure of education.

As a paper published by the Centre for International Development, Harvard University states, "according to NSS (National Sample Survey) data, the government's share in overall education expenditure has been declining steadily, from 80 per cent in 1983 to 67 per cent in 1999. For



states like Kerala, the decline is steep, from 75 to 48 per cent, while for Madhya Pradesh it is from 84 per cent to 68 per cent. Indeed, while private expenditure on education has risen 10.8 times in the last 16 years, that for the poor rose even faster, by 12.4 times." (Devesh Kapur and Pratap Bhanu Mehta, Indian Higher Education Reform: From Half-baked Socialism to Half-baked Capitalism, 2004.)

At the same time, while the public expenditure has declined, the enrolment rate in higher education institutions have grown in the last two decades. This has compounded the crisis in many ways. With public institutions in terminal decay and fund starved, the students have to pay for the mushrooming self-financing courses and in return they get bad teaching facilities. This has also led to growth of private educational institutions of questionable quality minting money by 'sale' of degrees at huge prices.

The other important and related factor responsible for the systematic crisis in higher education is the devaluation of learning that is at core of education. Education has been remoulded in the past decades in a way that it is seen more as a form of investment for developing marketable skills that could ensure success in job markets.

As pointed out by Professor (retired) Davinder Kaur Uppal of Makhn Lal Chaturvedi University of Mass Communication and valuation is being encouraged. If the teacher and the student do not enjoy the process of discovering new knowledge there is bound to be a decline in the standards of teaching."

She further points out that the teaching community cannot escape from its responsibility in contributing to the decline of the academic standards. "The teachers often agitate for their salaries and perks. I do not say that it is wrong. But why do they not fight for better teaching infrastructure, libraries and other academic resources?" she questions.

The question is relevant indeed. In fact, when we say that there is a systematic crisis, it means that the system is crumbling at various points. The higher education system has been facing several problems for long and one of them has been the apathetic attitude of many (not all) teachers towards teaching. But, the problem took shape of a crisis when in name of sorting the problems, the government took such policy decisions that have the potential to destroy the public educational institutions except a few which are showered liberally with funds under questionable schemes like the Innovative Universities Scheme by the U.G.C.

The question is, how learning can become valuable in a society where knowledge is seen merely as an exercise in honing 'human resources.' The decline of higher education in the State has to be seen in a wider perspective if we are really serious about salvaging it from the crisis. This is not merely a question of getting good NAAC ratings. The real issue is to ensure that everyone has access to equitable education and that education becomes a vehicle of generating knowledge necessary for building an enlightened society.

Courtesy :- The Pioneer





DREAM BIG BUT BE DEMOCRATIC

● Anuradha Dutt

Government must take the people into confidence while sanctioning mega development projects.

Civil rights and green activists, under the banner of National Alliance of People's Movements, Plan to undertake a protest march along the Delhi-Mumbai Industrial Corridor from Mach 8 to 19. Their is directed mainly against the fact that development, integral to the nation's growth and betterment of people's lives, is geared towards benefiting mammoth companies and the people who control them. They are also opposed to the secrecy that shrouds decision-making for such projects, and the omission of affected people as stakeholders, That, clearly, is undemocratic, since elected Governments justify mega schemes, entailing displacement of large numbers of people and acquisition of privately-owned land; environmental devastation; and destruction of heritage on grounds of public good. Yet, people, in general, are never consulted while formulation policies, which in the postreforms period have been driven by market forces.

Influx of huge amounts of foreign funds means that such projects have magnified potential to displace people and impact environment. Critics are not crying halt to development but its ruinous trajectory. The more cynical among them view grandiose plans such as the DMIC as convenient money-laundering ploys, and pretext for a cabal of corporates, politicians, global financiers, bureaucrats, technocrats and a

long chain of beneficiaries to appropriate vast swathes of land for perpetuity. They see promoters and policy-makers alike as being in league, to the detriment of the ignorant and voiceless multitude. Even the literate and informed usually remain in the dark about the true purport of closet planning.

To consider DMIC, the 1,483 km-long industrial corridor is slated to extend through Uttar Pradesh, Delhi, the National Capital Region, Haryana, Rajasthan, Gujarat and Maharashtra. Dadri in NCR and Jawaharlal Nehru Port in Mumbai are meant to be the end terminals. The joint venture between Japan and India has an initial share investment of ₹ 1,000 crore, which is slated to grow to \$100 billion. Opponents' worries relate to the following issues. One, the mega Project will impact 150-200 km areas on both sides of the dedicated freight corridor. Two, nine mammoth industrial zones are to be developed. Three, an estimated 180 million of the people will be affected, with resultant misery. Four, problems of severely inadequate water and power supply will be further compounded. And five, ecology will be put out of joint.

Dreaming big is a commendable exercise, and development does generate jobs for vast numbers of people. However, the fact that those who will be affected by loss of their land/homes and traditional work are not



involved in the policy-making process, or even allowed to express their views and objections in a credible way, is unacceptable. Sceptics scoff at the projected objectives of the project for a five-year period: Double employment potential; triple industrial output; quadruple exports.

One must weigh this optimistic scenario against the harsh reality of unfulfilled promises, mass displacement, mushrooming of urban ghettos, and growing monopoly over public resources by a clutch of powerful tycoons and their hanger-on. Precluding the electorate from decision-making, which occurs behind closed doors, and seems geared to benefit market forces alone, erodes the democratic ideal.

As activists gear up to launch their campaign, it would be edifying to recall the scrapping of another mega urban and industrial corridor. Last January, Jaypee Infratech Ltd, erstwhile promoter of the 1,047 km-long Ganga Expressway; slated to connect Greater Noida with Ballia in eastern Uttar Pradesh, withdrew its ₹1,000 crore bank guarantee. The 40,000 crore mega project, proposed an eight lane expressway with toll booths, passing through Varanasi, Mirzapur, Allahabad, Pratapgarh, Rae Bareilly, Unnao, Kanpur, Kannauj, Hardoi, Farrukhabad, Shahjahanpur, Badaun and Bulandshahr. The rationale given on paper by policy-makers was that constructing an embankment on the Ganga's left bank, from

Narora to the Bihar border, would serve to counter the annual flooding of the river on that side. The expressway was proposed upon the bund.

Urban development, industries, medical centres and shopping complexes were planned along the super fast route. The proposal came a cropper after Allahabad High Court, hearing pleas by environmentalists and human rights campaigners, ordered the State Government to get Central clearance. Farmers' protests against inadequate compensation for acquisition of the land aggravated the situation. Opponents' principal grouse was against the lack of transparency in the planning process, and the fact that one company was given the green signal to embark on a land appropriation spree. They believed that the public-private partnership model was reduced to blatant demonstration of crony capitalism. And at stake was the very civilisational ethos of the Gangetic plain.

Though its plan in eastern Uttar Pradesh was stalled, the company went ahead with building the 165 km-long Yamuna Expressway, linking Noida with Agra, in western Uttar Pradesh. Reports indicate that it will undertake urban and industrial projects along the route. Critics see this as a glaring example of corporate monopoly over mega development work. Hence, transparency in policy-making is urgently needed.

Courtesy :- The Pioneer



"It's kind of fun to do the impossible."

– **Walt Disney**



THE COLLABORATION OF STATE WITH NON GOVERNMENTAL ORGANIZATIONS

WHETHER A PATHWAY TO ENSURE
THE HUMAN RIGHT TO EDUCATION FOR ALL?

● Sonika Bajpeyee

INTRODUCTION : Right to education is one of the most important human rights which carries within itself an enormous power to transform. On its foundation rest the cornerstones of freedom, democracy, and sustainable human development. The aim of the present paper is to look at the interface between the State and non-governmental organisations to ascertain whether the State support to these NGOs, would, in fact, help the State to realise its cherished goal of providing basic education for all. The paper would be divided into three parts. Part-I of the paper would enumerate on the constitutional backdrop of the said right and would demonstrate how the accountability to provide basic education to all exclusively vests with the State. Part-II of the paper would put forth certain appalling statistics regarding the current state of basic education in India. Part-III of the paper would discuss predominant strategies behind some of the most successful NGOs and demonstrate how even a small level collaboration with the government has enabled them to have a large-scaled impact on the state of education today. The paper would conclude by advocating a need for the State to proactively fund various NGOs, without taking away their autonomy, in order to realise the fundamental right to education for all.

WHO IS ACCOUNTABLE FOR PROVIDING BASIC EDUCATION TO ALL?

The status of the human right to education in India has gone enormous change. When the Constitution of India came into force in 1950, the said right was incorporated as a directive principle which mandated State to provide education to children below 14 years within ten years of the commencement of Constitution. In the case of *Mohini Jain vs. State of Karnataka* the Hon'ble Supreme Court for the first time held that Right to education is a part of Right to life guaranteed under Article 21 of the Indian Constitution. The Court went a step ahead in *Unnikrishnan J.P. and Ors. Vs. State of Andhra Pradesh* and observed that the Right to education, which is the part of Article 21 of the Constitution must be construed in the light of Directive principles as propounded in Part IV of the same. The Court noticed that the content and parameters of right to education have to be guided by Articles 45, 46 and 41. Such judicial pronouncements lead the Parliament to amend the constitution to incorporate the Right to Education in the fundamental rights chapter via 86th Constitutional amendment. The right has been propounded in Article 21-A of the Constitution which reads-



“The State shall provide free and compulsory education to all children of the age of six to fourteen years in such manner as the State may, by law, determine.”

Now as we have a ‘fundamental’ right to education, the next question is- *Who is accountable for providing basic education to all?* It is settled that the concept of fundamental rights originated in the west with an understanding that unlike other legal rights, which are creation of the state, the fundamental rights are enforceable against the state. Therefore, even if a Constitution does not explicitly state it, it is the state and its officials against whom you can claim such rights. Thus, the right to education in India can be enforced against the state, which essentially imposes on the State an obligation to provide education as mentioned in Article 21-A of the Indian Constitution. The language of this article further removes any kind of confusion regarding the fact that sole and exclusive accountability to provide education vests with the government.

CURRENT STATE OF BASIC EDUCATION IN INDIA

WHETHER SATISFACTORY?

In pursuance to the purpose envisaged Article 21-A, the Parliament has come up with *the Right of children to free and compulsory education (RTE) act, 2009*. Effective implementation of RTE is extremely crucial for a country like India where education is one of the highest priorities of the government. As per the Annual Status of Education (ASER) Report 2011, a healthy compliance can be seen with the basic norms prescribed by the RTE, for instance, facilitates relating to classrooms, drinking water, toilets, library, playgrounds etc. The report says that 96.7%

of the children in the age group of six to fourteen in rural India are enrolled in school, which is indeed a very high enrolment rate. But an important question to be asked here is- *Whether a high enrolment percentage in schools guarantees education one desires for his children?* Unfortunately it does not. The report suggests that the ability to read, write or do basic arithmetic is on a decline. Also, there has been a visible increase in the private school enrolment and private tuitions, which seems to be attributable to the abysmally low quality of education provided by the government schools.

It seems that the State perceives the said right in a different manner from the way a common man does, and the reason could be because the former bears the exclusive burden to provide basic education to the huge population of India. It seems that the State deems the right to education to be ‘fulfilled’ when it has provided the children with the basic fiscal and infrastructural support needed by them to be educated. A glance at the budget allocation for 2012-13 reveals that the government intends to spend crores of money for the implementation of the Sarv Shiksha Abhiyaan (SSA), setting up new schools and setting up a credit Guarantee Fund for students, Available at but unfortunately, there is no allocation of money to teacher training or student counselling cells or a better curriculum design for that matter. The State has been primarily focussing on providing the fundamentals for teaching and learning, but not for the quality of the same. Given the ASER report on the level of learning displayed by Indian children, the ‘quality’ of education provided by the government is certainly questionable.



NGOs AND THEIR COLLABORATION WITH THE STATE WHETHER A PATHWAY TO ENSURE BASIC EDUCATION FOR ALL?

In any discussion on right to education, one cannot forget various non-state actors, most importantly, the NGOs which have made meaningful interventions in the field of elementary education. Recently, there has been an emergence of certain revolutionary NGOs which are exclusively dedicated to teaching and capacity building of the young ones, for instance, Teach for India, Make a difference, Bhumi, Pratham, Eureka Child etc. These organisations have come up with pioneering initiatives regarding classroom pedagogy, teacher training, mentorship cells, course structure, school management etc and have shown a remarkable progress in the providing 'quality' basic education to children. The way these NGOs perceive education is very different as compared to how the State perceives it. These NGOs focus on the actual learning as well as capacity building as opposed to Government who focuses more on providing the basic framework to get the education. In the following paragraphs, a brief discussion on these NGOs is undertaken.

Teach for India (TFI) is an NGO which aims at eradicating educational inequality by choosing outstanding college graduates and young professionals to teach full time in under-resourced schools for two years. TFI model includes the selection of fellows through a rigorous selection process, giving them a comprehensive training to mould them into successful teachers and thereafter, sending these fellows to ill-equipped schools to teach poor children. Because of the rigorous training these fellows are made to undergo, they turn out to be more determined

teachers aiming at imparting quality education to the children. Till date, TFI has sent 506 fellows to various governmental schools located in Mumbai, Pune and Delhi thereby impacting 9300 students.

Make a difference (MAD), on the other hand, is a Cochin-based organisation which aims at empowering children in orphanages, street shelters and poor homes via its various projects namely the English Project, Placement Project, Library Project etc. MAD is predominantly a volunteer-based organisation which also follows a selection process for future teachers, makes them undergo various trainings and sends them to teach underprivileged kids for two hours per week. MAD uses various innovative techniques to impart education, for example, grouping the students of same intellectual level together, conducting interactive classes, conducting periodic learning assessment tests, devising rewards systems for those who perform well, giving them career specific exposure, and so on. Today, close to 1200 MAD volunteers have reached out to 4000 children in 13 cities.

Bhumi is another NGOs modelled on similar lines of MAD. It also shares a vision for reaching out to the underprivileged. *Bhumi* today is actively engaged in projects relating to computer literacy, interactive English programmes for starters, mentorship project etc. Since 2008, *Bhumi's* fundamental '*Speak Out*' project has enabled 1672 students spread over five cities to communicate in English. *Pratham* is another leading Mumbai-based NGOs which has now spread across to 19 cities benefitting millions of children living in rural and urban areas. *Pratham* has a variety of projects which aim at supplementing rather than replacing governmental efforts to bring out a



large scale change. To implement its flagship programme 'Read India', Pratham has signed Memorandums of Understanding with 8 state governments. 'Read India' is executed with the aid of school teachers, anganwadi workers and volunteers who are mobilised, trained and monitored by the Pratham team and are also provided with Teacher Learning Material and books developed by Pratham. Read India boasts of reaching out to 33 million children in 305,000 villages of India with the help of nearly 450,000 volunteers.

Eureka Child, a distinguished Tamilnadu-based NGO, also aims at ensuring quality education for every child by collaborating with existing institutions like other NGOs, Government and private schools. Eureka child is currently spread over 1,000 marginalised villages in Tamilnadu and is engaged in projects related to after-school education centres, mainstream education for the poor, scholarship programmes, and so on. The Model schools established under the 'Eureka Schools' programme use the similar methodology of teacher training, specialised curriculum, periodic assessment etc. to propagate learning.

If the success-stories of these five NGOs are looked closely, it can be seen that they work in some form of collaboration with the government. This trend gives the space to assert that if the minimum infrastructural facilities provided by the government are blended with the innovative education models of such NGOs, India can realise her seemingly far-fetched dream of providing education for all.

CONCLUSION

It has already been seen that right to education being a fundamental right in India, the Government bears the sole responsibility

to provide basic education to all. Thus, it is submitted that the Government should support various NGOs in carrying out their projects aiming at eradication of educational inequality. It is important to mention that the government should focus more on the start-up NGOs rather than the established ones. This is so because the start-up NGOs because of being new, lack the credibility which a prudent investor would look for before investing money in them, which leads to lack of funds thereby collapsing these NGOs. On the contrary, the established NGOs because of having gained a reputation over a period of time tend to be more self-reliant in their funding. Thus, Government must ensure that merely the lack adequate funding is not jeopardizing the growth of an otherwise capable start-up NGO. It is suggested that the Government should allocate a portion of its budget exclusively to provide fiscal and infrastructural support to such NGOs. However, the suggestion of the aforesaid funding comes with an important caveat viz. such funding should not take away the autonomy and the independent stature of these NGOs. If the government would try to assert its control over the NGOs financially aided by them, the fear of losing their status as NGOs and becoming the agencies of states would deter these NGOs from taking any kind of support from the government, which ultimately would lead to their collapse which earlier could have been because of the lack of funding. Government should break this vicious cycle and aim at forming meaningful partnerships between various NGOs to help us realise the dream of an educated India one day.

Writer is 4th year Student of National University of Juridical Sciences, Kolkata



Police Reforms in India: Crucial for Human Rights



Reforms in policing began with formation of the NPC on 15th November 1977. One among the many terms of reference of the Commission required it to recommend measures and institutional arrangements to 'prevent misuse of powers by the police and misuse of police by administrative or executive instructions, political or other pressure, or oral orders of any type, which are contrary to law'. The NPC tabled eight reports before the government between of 1979-1981. However its recommendations were not implemented by the government of India.



People cannot take the law into their own hands. The rationale behind this reasoning is that the state is present to protect its citizens and to create an environment for realization of human rights. Citizens only have a limited right vested in themselves to protect their or anyone else's person or property which is guaranteed by the right of private defence. There is no right of private defence in cases where there is adequate time to have recourse to public protection. Anyone employing his right of private defence must justify that there was no reasonable time to approach the state institutions for help. Thus, citizens claim protection from the state for their welfare and it is the reciprocal obligation of the state to ensure the 'rule of law' through its institutions. The primary institution on which the state relies for the maintenance of law and

order is the police. In order to achieve this objective, the police are empowered to use limited coercive power thereby creating conditions for realization of human rights. The constitution itself and the international treaties and covenants ratified by India cast a duty on the state to protect and promote human rights. Article 2(3)(a) of the International Covenant on Civil and Political Rights mandates every state party to ensure that any person whose rights or freedoms as herein recognized are violated shall have an effective remedy, notwithstanding that the violation has been committed by persons acting in an official capacity. By virtue of being born a human, everybody has human rights which are inalienable and indivisible. Human rights are core values which the police have a moral as well as a legal duty to uphold. This is the essential



difference that distinguishes good policing from bad. While discharging their duty, police have to confront human rights. In order to ensure the security and safety of the common mass, police cannot belittle the rights of an individual or a marginalized community. They have to maintain the delicate balance between protecting human rights and preserving the security of the people, which though difficult, is not impossible to achieve. Unfortunately, Indian police choose the easy way out.

THE NEED FOR REFORM: Police in India, until recently, was governed by the colonial Police Act of 1861 enacted by the British. This statute did not meet the tripartite standards of accountability, transparency and equity. It was meant for subjects not for the free citizens of a democracy. A global survey showed that at best, the Police are inactive; at worst they “actively harass, oppress and brutalise” As for example on the morning of 10th June 2008, the media reported that a 25-year-old woman who was allegedly raped by two policemen at the station house committed ‘suicide’ at the Haryana police headquarters in panchkula after two months of struggle for justice. Police would not register her complaint, and instead intimidated her to keep quiet. Unfortunately, the redressal machinery swung to action only when she paid for it with her life. This is merely a glimpse of the grim picture that pervades the country. The reports of the National Human Rights Commission provides a clear picture of the situation prevailing in the country. A total of 85,661 cases disposed of in 2004-2005; 38,448 were dismissed ‘in limini’, while 21,465 were disposed of with directions to the appropriate authorities for

remedial measures. 766 complaints related to custodial deaths, 46 cases pertained to encounter deaths and 24,936 other cases were also disposed of after calling for reports from the concerned authorities. In the latter group, 24 cases pertained to alleged disappearances, 1086 cases related to illegal detention/ illegal arrest, and 1213 cases were of alleged false implication. There were, in addition, 16 cases of alleged custodial violence, 84 cases of alleged ‘fake encounters’, 6833 instances of failure to take appropriate action and 6488 complaints related to other alleged police excesses. In a study on the “Image of Police in India”, over 50% of the respondents mentioned ‘non registration of complaint’ as a pervasive malpractice in police stations. The Law Commission of India examined the subject and recommended the insertion of a specific provision in the Indian Penal Code. The commission recommended that any officer who refused or without reasonable cause failed to record an FIR be subject to imprisonment for a term of one year or fine or both. However the government blatantly refused to accept this recommendation which could have been potent armour in the hands of citizens against police harassment. The National Police Commission (hereinafter referred to as “NPC”) correctly observed that the nexus between financially powerful groups and political power existing in India has a direct link to inequitable policing practices. Malafide exercise of power at different levels in the police is induced by such links. The problem of police corruption cannot, therefore, be satisfactorily tackled unless these links are broken. The fundamental problem regarding



the police today is how to make them function efficiently and impartially motivated and guided only by the objectives of the service to public at large, upholding the constitutional rights and liberty of the people. Another aspect adding to the unfortunate plight of Indian citizens are the impunity provisions of the Code of Criminal Procedure .Section 197 and 132 of the CrPC require the prior sanction of the government before prosecuting public servants for any offence alleged to have been done in discharge of their official duty. The object of the section is to guard public servants against vexatious proceedings and to secure the well-considered opinion of a superior authority before their prosecution. However the blatant misuse of this provision concretizes itself in the form of police excesses which go unchecked. Moreover the internal departmental enquiry mechanism whereby a superior official adjudges a complaint about his subordinates is an impediment to proper accountability due to the inevitable solidarity and fellowship among officers which impedes objectivity. Departmental enquiries do not always bring out the truth and are mostly biased in the favour of the policemen .The inquiry officer is obsessed by a feeling that the exposure of the misconduct of any of his subordinates will be deemed as a stigma on his own administration and is, therefore, inclined to suppress a full exposure of the alleged misconduct.

THE ROAD AHEAD: Reforms in policing began with formation of the NPC on 15th November 1977. One among the many terms of reference of the Commission required it to recommend measures and institutional arrangements to ‘prevent misuse of powers

by the police and misuse of police by administrative or executive instructions, political or other pressure, or oral orders of any type, which are contrary to law .The NPC tabled eight reports before the government between of 1979-1981. However its recommendations were not implemented by the government of India. In 1996, the two former Director Generals of Police filed Public Interest Litigation (PIL) in the Supreme Court of India to direct the centre and the state governments to take measures for improving the quality of policing in India and to make the police more accountable. The decision of the court in 2006 noted that having regard to the ‘gravity of the problem’ and ‘total uncertainty as to when police reforms would be introduced’, further waiting was not be possible and the stage had come for issuing appropriate directions for immediate compliance to be operative until such time a new legislation is enacted. Article 141 declares that directions issued by the Supreme Court are binding on all courts in India and Article 144 of the Constitution of India mandates that all authorities civil or judicial shall act in the aid of the Supreme Court. This entails that judgments and interpretations of the Supreme Court have the force of law and failure to comply with court guidelines amounts to Contempt. Policing being a state subject in India, the Supreme Court gave a deadline of March, 2007 to all states for compliance with its directives and a monitoring committee has been set up to review its implementation. The Supreme Court in this case gave directives which were to be followed till the states come up with their police acts. First was to set up a State Security Commission which would insulate the police form unwarranted political



interference. Political control is necessary but it needs to be conditioned in such a manner that political masters cannot take undue advantage. The primary responsibility of this commission is to lay down policy guidelines for service oriented policing, evaluate the functioning of the police and making binding recommendations to the government to that effect. Second, the directives provide for a minimum fixed tenure of two years for the Chief of Police and four other police officers on operational duties in the field. The court expressed its shock over the frequent transfer of Superintendents of Police for whimsical reasons and observed that this trend leads to demoralization of the police force. Third, the directives call for the separation of investigation from law and order which was also recommended by the Law Commission of India in its 154th report. This would ensure faster, accurate and fairer processes so that rule of law is maintained. Presently, law and order is prioritized over investigation work which leads to loss of material evidence crucial for the case under consideration. Fourth, the Court's directives mandate the creation of a Police Establishment Board which would be a departmental body to oversee the transfer and posting of the officials above the rank of Deputy Superintendent of Police. Fifth and the most important, the judgment directs to set up Police Complaints Authority in states to inquire into allegations of complaint of public against the men in uniform. This is supposed to be an independent body comprised of civil society members to ensure that justice is done without prejudice to any

party. However states are trying to dilute the neutrality of the complaint authority by increasing the number of policemen on the Complaint Authority in the guise of independent members. This would annul the efficacy of having a complaint authority.

CONCLUSION: The Supreme Court's directives are a welcome step however some of the areas are still open to misuse. They do not in any way effect the impunity provisions in the CrPC, the misuse of which is a major cause of harassment to the citizens. The institution of police must function according to the rule of law and not according to the rule of politics. Policing must not be partisan in anyway towards people with clout ignoring the voice of the marginalized. Police is to be a service oriented institution composed of professionally trained officers where there is no dilution in command and responsibility. Only then can we imagine a democracy with equity pervading throughout. However, the states have been reluctant to implement the directives of the Supreme Court. Most of the states have or are trying to pass the new Police Acts but have diluted the directives leaving lacunae in place for police to act discretionarily and facilitating entrenchment by the political executive. This is a significant blow to all civil society members who turn to state and the police to protect their human rights. The entire campaign towards reform has been compromised by those who want to protect their narrow and partisan interests.

Source : <http://www.legalservicesindia.com>

Compiled by : Research Officer , MPHRC

□ □ □